GYAN DIKHSHA 1 (HINDI)

IGNCA

संस्कृति-सीरीज—१

T: # ज्ञानदीक्षा

★

## प्रकाशकीय

'ज्ञानदीक्षा'में पहले 'बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ'में दिये गये कुल सात दीक्षान्त-भाषण शामिल किये गये थे; लेकिन बाइंडिंग होनेसे पूर्व विद्यापीठका १७वाँ उपाधि पत्र-वितरण-समारम्भ भी आयोजित हो गया। उस अवसरपर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा दिया गया दीक्षान्त-भाषण भी इसमें शामिल कर लिया गया है। यह भाषण जैसा कि शीर्षकसे ही स्पष्ट है—हिन्दी भाषा और साहित्यके विकासकी एक सुव्यवस्थित योजना है। इस कलेवर-वृद्धिकी दृष्टिसे अब पुस्तकका मूल्य भी दो रुपए करना पड़ा है।

वर्तमान प्रेस कठिनइयाँ सर्वविदित हैं। तीन प्रेसोंके जरिये यह ग्रन्थ पूरा हुआ; अतः भाषणोंके क्रम और पृष्ठ-संख्यामें भी गलतियाँ रह गईं प्रूफ-रीडिंग भी ढंगसे नहीं हो पाया। अगले संस्करणमें निश्चय ही ये दोष नहीं रहेंगे।

पुस्तकके सादे, सलोने और सुन्दर आवरणपृष्ठके लिए कलाकार श्री प्रभास सेन धन्यवादके पात्र हैं।

ता० १ अगस्त १९४७ —हिन्दी ज्ञानमन्दिर लि०

हिन्दी-ज्ञानमंदिर-प्रकाशन

प्रथम संस्करण—२०००
मार्च १९४७
मूल्य डेढ़ रुपया

★



भानुकुमार जैन : मैनेजिंग डायरेक्टर,
हिन्दी ज्ञानमन्दिर लिमिटेड
२९, रुस्तम बिल्डिंग, चर्चगेट स्ट्रीट, फोर्ट, बम्बई
के लिए
प्रदीप प्रेस, मुरादाबाद, द्वारा मुद्रित और प्रकाशित

# 'ज्ञानदीक्षा' के बारे में

**[ प्रकाशक और बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ के मंत्री की ओर से ]**

जिस समय आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन का हस्तलिखित भाषण मेरे हाथ में आया और मैंने पढ़ा, मैं उछल पड़ा। देश-विदेशकी युनिवर्सिटियों और अनेक शिक्षण-संस्थाओं के दीक्षान्त-भाषण समय-समय पर मैं पढ़ता रहता हूँ; उनकी तुलना में मुझे लगा, कि आचार्यजी का भाषण अभूतपूर्व, अनुपम और सर्वश्रेष्ठ है। वाकई, जैसा 'दीक्षान्त-भाषण' होना चाहिये, वैसा मुझे यह पहली बार दीखा।

उस अवसर ( विद्यापीठ के समारंभ के समय ) पर विद्यापीठ की साधन-सम्पत्ति अनुकूल होती, तो सच, मैं इस भाषण का बढ़िया डि-लक्स ( राज )-संस्करण कई भाषाओं में छपवाकर दुनियाकी सभी युनिवर्सिटियों में मुफ़्त भिजवा देता।

पं. माखनलालजी चतुर्वेदी का भाषण एक अमर दीक्षान्त-भाषण है, वह भारतीय साहित्यकी बे-जोड़ निधि है। उसका हर पैरा एक सूत्रहै, भाष्य करने योग्य है। जीवन का सम्पूर्णांग उसमें छुआ गया है।

साहित्याचार्य श्री हजारीप्रसादजी द्विवेदी का भाषण विचार-जन्य-खोज-सामग्रीपूर्ण; भदन्त आनन्द कौशल्यायनजी का भाषा-संबंधी जीवित समस्याओं का यथार्थ निरूपण करता हुआ; श्री जैनेन्द्रजी का हृदयकी अनुभूतियों से युक्त; डा. राममनोहरसिंह का विश्लेषणमय; और श्री रमेश सिनहा का प्रगतिशील भावनाओं का परिचायक-ये सब भाषण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। वे भविष्य की दुनिया में, आज की दुनिया के साहित्य की खोज की वस्तु होंगे। बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ अपने समारंभों में इन कृतियों और कृतिकारों को पाकर धन्य तथा अमर हुई है और हम भी इनका प्रकाशन कर गर्वित हैं। पाठकों तथा देश को तो इससे लाभ होगा ही।

**—भानुकुमार जैन**

# अनुक्रमणिका

# ज्ञान : साहित्य : भाषा : स्वतंत्रता

## अवलोकन

सहृदय तरुण बन्धुओ और बहनो;

आप जैसे नवयुवकों एवं नवयुवतियों को परीक्षा में उत्तीर्ण होनेका प्रमाण-पत्र पाते देखकर मेरा भी हृदय कुछ अबोला-सा अपनी मूक वाणी में कह रहा है कि जरा मैं भी आप लोगों की भावुक टोलियों में होता। किन्तु मुझे संतोष है कि आपने मुझे आमंत्रित कर के स्फूर्ति के इस मोहक वातावरण का दर्शन करनेका सौभाग्य प्रदान किया है। जहाँ आप अपनी योग्यताके सर्टिफिकेट पा रहे हैं, वहाँ मैं भी अपनी अयोग्यता का प्रदर्शन करते हुए सर्टिफिकेट पेश कर रहा हूँ।

आप बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर यहाँ आये हुए होंगे। मैं भी हिंदी भाषा के अनुरागियों के मजमे में कुछ आशा लेकर ही तो आया हूँ। पत्रकार से जनसमाज अन्तरंग के बजाय बाह्य, गूढ़ के बजाय सरल, सरस के बजाय शुष्क एवं सूक्ष्म के बजाय संक्षिप्त विवेचन की उम्मीद रखता है; और यही उसके लिये मानो अपनी रक्षा का एक दुर्ग है। इस अवसर पर आप भाषा-तत्वके विश्लेषणात्मक, विचारात्मक रूप; एवं काव्यधारा की मीमांसा की अपेक्षा रखते

होंगे। परंतु मैं तो परिचयात्मक ढाल के सहारे आपको केवल विहंगावलोकन ही करा सकता हूँ। काव्य–प्रतिभा से हीन, भावना-जगत् से दूर, और अति गंभीरता से शून्य, मैं वास्तविकता का पक्षपाती, उस कवित्वमय शैली में आपको संदेश सुनाने की अपेक्षा मात्र दिग्दर्शन कराना पसंद करूँगा। मेरा विश्वास है कि साहित्य के विविध, विपुल और प्रशान्त सागर के रत्नों की खोज में मेरा दिशा-सूचन ही पर्याप्त होगा।

ज्ञान अपरिमित है। मैं तो उसे त्रिगुणात्मक मानता हूँ। अध्ययन, मनन और विवेचन; ग्रहण, प्रतिक्रिया एवं अनुभूति; मस्तिष्क, मन एवं हृदय की क्रियायें आविर्भूत साकारस्वरूप। मनका जगत् दर्शन के सहारे अध्यात्म और संयोजन की प्रवृत्तियों का आधार है। मस्तिष्कका संसार विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियों के सहारे विज्ञान के रूपमें अवतरित होता है। और हृदय की क्रियाएँ भावना, कल्पना और अनुभूतियों के त्रिविध संयोग से साहित्य का सृजन करती हैं–काव्य का निरूपण करती हैं। जिज्ञासा, अन्वेषण और कलात्मक अभिव्यंजना का मानो विशद आकार खड़ा होता है। ज्ञान के इन तीन रूपान्तरों का प्रकटीकरण मानव-जीवनकी सबसे बड़ी सफलता है।

\+ \+ \+

आज पूर्व और पश्चिम दो कूलों की तरह अलग हो रहे हैं। एक पर अध्यात्म, सिद्धांतवाद और धर्म की ऊँची कगार है; तो दूसरे पर वस्तुवाद, वैज्ञानिक प्रगतिवाद और तर्क के कंकड़ों का टीला है। एक तथाकथित रचनात्मक, संयोजनात्मक और एक से अनेक की ओर था; तो दूसरा विध्वंसात्मक, विश्लेषणात्मक और अनेक से एक की ओर है। दोनों की प्रणाली भिन्न होते हुए भी साहित्य उसकी भिन्नता की जटिलताओं को सुलझाने की शक्ति रखता है; क्योंकि वह जीवन के अधिक निकट है :और वेदनाओं, पीडाओं एवं आनन्दोल्लास के प्रभाव से कोमल बन गया है। तलवार की धार और मूठ को छिपाकर, उसकी सामयिक उपयोगिता को सुझाना मखमली म्यान के रूप में साहित्यका ही

तो काम है। 'साहित्य' मानव की सामाजिक प्रगति का सूचक, उसकी विकसित प्रतिभा का दिग्दर्शक और देश, काल तथा परिस्थिति का दर्पण जो है। साहित्य के विवेचनात्मक और विभिन्न पहलुओं पर सूक्ष्म विचार न करते हुए अब उसका एक ही दिशा में अवलोकन हम करेंगे।

साहित्य भाषाका श्रृंगार, मानव-सृष्टि का सूर्य और चेतनामय जगत् का अनुपम सौन्दर्य है। यह काव्य के रूप में–संगीत, नृत्य और अभिनय का सहोदर है; और कला के रंगमंचपर प्रमुख अभिनेता है। चित्रपट पर चित्र-कला के रूपमें वह मूर्तिमान स्वरूप धारण करता है। विचार का वाहन बनकर वह भाषा में गद्य का आमुख है; और अनुभूतिका आधार बनकर पद्य अथवा रसात्मक काव्य की वह भूमिका बनता है। साहित्य का क्षेत्र व्यापक है।

विकासवाद के दृष्टिकोण से साहित्यकी सीमा : भाषा, शैली, पृष्ठभूमि और प्रवृत्तियोंसे घिरी है—उसका क्षेत्र : आकाशरूपी भाषा के वायुमण्डलसे, पृथ्वीरूपी शैलीके वातावरण से, पृष्ठभूमिरूपी प्रवृत्तियों की कर्मभूमि से ससीम होकर भी असीम है। भाषा :भावना का स्रोत और साधन है। शैली : विचार-धारा का उद्गम है। पृष्ठभूमि : मानवता की चिन्तनशीलता का आरंभ; और प्रवृत्तियाँ : क्रिया-प्रणालियोंका विकास है। सुषुप्ति के अंधकार को चीरकर जागृतिका प्रगतिशील संदेश भाषा ही तो सुनाती है। वही तो मानव के अवसाद और अकर्मण्यता को मिटाकर उसे आगे बढ़ाती है। जीव-विज्ञानके विचारकों ने तर्क और युक्तियों के द्वारा बतलाया है कि हाव-भाव, संकेत, उच्चारण, और अन्तत : विचारों के प्रकटीकरण के रूपमें भाषा अवतरित हुई, और उसने लिपि का मौलिक आकार ग्रहण किया। शायद भाषा का स्रोत : भाव और लहर को शक्ति प्रदान करनेवाला साधन—विचार था। लिखितरूप में लिपि, और कथितरूपमें स्वर अथवा अक्षर यही भाषा की इकाई है। इकाइयों के योग—संयुक्तीकरण एवं वर्गीकरण को ही तो व्याकरण का नाम दिया जाता है, जिसे आप शुष्क और नीरस मानते हैं।

नीरस को सरस बनानेकी क्षमता मुझमें नहीं है। अत: मैं इस वर्गीकरण के बजाय दूसरे वर्गीकरण की ओर आपका ध्यान आकर्षित करूँगा। नगर, ग्राम और बन: संस्कृति के दृष्टिकोण से इनकी अपनी भाषाएँ हैं। विकास, परिपक्वता और सांस्कृतिक आवरण ही इन भाषाओं को अलग अलग करते हैं।

\+ + +

भाषाकी उत्पत्ति एक विवादग्रस्त विषय है। विद्वानों ने अपनी-अपनी धारणाओं की, अपने-अपने मतों से पुष्टि की हैं। कहते हैं मानव का मूल एक था—चाहे आप उसे वोल्गा मानें, चाहे मंगोलिया। वहीं से मानव-जाति विश्व-भरमें फैलती गयी। मानव का यह इतिहास विशद है और दिलचस्प भी। हाँ, तो जब उसका मूल एक था, तो उसकी भाषा का मूल भी एक ही होना चाहिये; और इसी तर्क के सहारे हम मानव की भाषा का उद्गम-स्थान 'महा–संस्कृत' को मानते हैं– जिसने भारत में संस्कृत, पश्चिम में सेमेटिक, यहूदी, यूनानी और अन्य; और दक्षिण तथा पूर्व में द्रविड़ आदि का स्वरूप धारण किया। संस्कृत–वैदिक और पौराणिक कालान्तरमें कठिन होने पर प्राकृत, पाली आदि में; तत्पश्चात् व्यापक क्षेत्र में फैलनेसे महाराष्ट्री, शौरसेनी मागधी और अर्धमागधी के रूप में अवतरित हुई। इन्हीं से अपभ्रंश भाषाएँ जन्मीं और उनके सामयिक तथा स्थल संयोग से नागर, उपनागर तथा व्राचड़ (व्राचट्) का प्रादुर्भाव हुआ; जिनसे अंत में वर्तमान संस्कृतज, देशज और वर्तमान भारतीय भाषाओं की उत्पत्ति हुई। मराठी, गुजराती, बंगाली, पंजाबी, हिंदी, सिंधी, उड़िया, आसामी, पर तो आदि भाषाएँ हैं, जिनके अन्तर्गत अनेक बोलियाँ भी हैं। पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, व्रज और अवधी, मैथिली, बुंदेलखण्डी आदि बोलियों के रूपमें आज भी विद्यमान हैं। इन सबकी लिपियाँ देवनागरी के रूपान्तर मात्र हैं। पश्चिमी हिन्दी और उर्दूके संयोगसे 'खड़ी बोली' अर्थात् आधुनिक हिंदी का निर्माण हुआ, ऐसा मैं मानता हूँ। कुछ यों भी कह सकते हैं कि खड़ी बोली का एक रूपांतर ही उर्दू है, जिसकी अपनी कोई लिपि न होने से

वह विदेशी लिपि पर आश्रित है। संस्कृत के सहारे चढ़कर द्रविड़ भाषाकी लतिका तामिल, तेलगू और मलयालम, तथा संयोग से कन्नड़ शाखाओं में विस्तारित हो गई।

+ + +

विभक्तिकरण की प्रणाली के अलावा संयुक्तिकरण की प्रणाली से भाषा का विकास-पथ तैयार हुआ, जो साहित्य के इतिहास का क्षेत्र है। वीर-गाथा-काल से भक्ति की त्रिवेणी की मधुर और रहस्यपूर्ण धाराओं, रीतिकाल के नायिका-भेद और सौंदर्य-पान की चेष्टाओं, तथा आधुनिक काल की विस्तीर्ण प्रगति की प्रणालियों में न जाकर सिर्फ इतना ही कहना काफी होगा, कि हिन्दी भी उसी तरह विकसित और प्रौढ़ हुई है कि जिस तरह इस देश की अन्य अनेक आधुनिक भाषाएँ। शैशव में शौर्य, कौमार्य में जिज्ञासा और भक्तिभाव, यौवन में रति-विलास तथा लालसा, और प्रौढ़ता में प्रगति-वाद का गांभीर्य; संभवतः भाषा का यही जीवन है। हो सकता है कि अन्य अतीत काल की भाषाओं की तरह वर्तमान भाषाएँ भी कालन्तर में क्रम-विकास से विलीन हो जायँ, जिसे हम रूपान्तर मानकर दूसरा ही नाम—'हिंदुस्तानी' ही सही, दे लें! जीवन का अस्तित्व होता है, और अन्त तथा रूपान्तर भी। परिवर्तन को ही तत्वज्ञानी जीवन का लक्षण मानते हैं। प्राणी सन्तान के रूप में रूपान्तरित हो जाता है और मृत्यु ही तो उसका परिवर्तन है! किसी भी भाषा का जीवन उसकी संवेदनशीलता, परिपक्वता, व्यापकता, विशेषता और प्रतिक्रिया पर निर्भर रहता है! हिन्दी ने अभी तक प्रगतिशीलता और प्रतिक्रिया के दृष्टिकोण से देश की दूसरी भाषाओंका नेतृत्व किया है। उदाहरण के लिये भक्ति–भावना राष्ट्रीयता अथवा साम्यवादी छाया को ही ले लीजिये! हिन्दी में इन भावनाओं अथवा इस छाया का प्रभाव पहले देखने को मिलता है; और हिन्दी से ही संभवतः इनका विस्तार अन्य भाषाओं के साहित्य–क्षेत्र में हुआ। हिन्दी को राष्ट्रभाषा कहनेका यही सबल कारण भी है।

युगान्तर में हिन्दी ने राष्ट्रभाषा का बाना पहना है। आज वह अपने अधिकार के लिये लड़ रही है। परन्तु उसने भी तो आँसू के खारे घूँट

पीकर, अँग्रेज़ी से शोषित होकर, और जनता-जर्नादन के पसीने से सराबोर होकर, अपनी विमलता, संस्कृति, व्यापकता एवं विशालता की रक्षा की है; और राष्ट्रीयता की सीमा को लाँघकर अन्तर्राष्ट्रीयता के सौहार्द और मानवीय क्षेत्र में पैर बढ़ाया है। गाँधीवाद, अध्यात्मवाद, साम्यवाद और विश्वबंधुत्व से प्रभावित होकर हमारी राष्ट्रभाषा गाँधी, रवीन्द्र और जवाहर की त्रिवेणी में स्नान कर पवित्र हो गई है—अभिषिक्त हुई है। अध्यात्म का जल गंगा में, साम्यवाद की हिलोरें यमुनामें, और विश्वबंधुत्व का शुभ्र, स्वच्छ, स्निग्ध नीर भौतिकरूप से अस्तित्वहीन सरस्वती में भरा हुआ है। क्या यह पावन रस देश, विदेश और विश्व को पवित्र न कर सकेगा ? आज हमारे प्रेमचन्द, यशपाल, मैथिलीशरण, प्रसाद, पंत, निराला, और महादेवी भले ही हिन्दी-साहित्याकाश के सूर्य, चन्द्र और तारे न होकर खद्योत ही हों; मगर कुछ दिनों बाद भारत के घर-घर में प्रवेश कर जायेंगे। इसकी कक्षाएँ निर्धारित न रहेंगी। वे तो अनुकूल युग और अनुकूल परिस्थितियों को पा कर श्रम से सरस बनेंगी। प्रतिभासे ज्योतिपूर्ण होंगी और शैली से व्यापकता ग्रहण करेंगी। श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने क्या इसी ओर संकेत करते हुए तो नहीं कहा है कि—"गाँधी में वाद नहीं, योग है; उफान नहीं, उदय है; सत्ता नही संज्ञा है। बापू आत्मा का कवि है। सत्य उसकी वीणा है। विश्व-वेदना उसकी रागिणी है। अहिंसा उसकी टेक है और करुणा उसका रस है। संस्कृति उसकी स्वरलिपि है, प्रभु उसका अवलम्बन, जनता उसका उपकरण, विश्व उसका काव्य, कर्म उस के अक्षर और संयम-नियम उस के छन्द हैं।" हमारा भविष्य-पर्व गाँधी और जवाहर की सुषमा तथा चेतना से परिप्लावित है। रहस्यवाद, छायावाद, मायावाद और हालावाद से वह प्रगतिवाद की ओर वेग से बढ़ रहा है। कवि, कलाकार और संत मानो युगधर्म से प्रेरित होकर एकरूप बन गये हैं। साहित्य से सामयिकता का यही तकाजा भी है।

\+ \+ \+

साहित्य की सुरभित वाटिकामें प्रस्फुटित विविध प्रसूनोंका मकरंद-पान करना ही तो जीवन का एक मात्र लक्ष्य नहीं है। और अगर साहित्य में जीवन को आलोड़ित-विलोड़ित करनेवाली युगान्तरकारी भावनाओं का स्पंदन होता है, तो राजनीतिक क्षेत्रमें, जीवन को वास्तविकता की कसौटी पर कसकर और अपने व्यक्तित्व को समाज के लिये प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अनुकूल बनाना पड़ता है। इसी परीक्षामें सफलता प्राप्त करके प्रमाण-पत्र लेना ही पर्याप्त नहीं है। आपको वास्ताविक प्रमाण-पत्र तो जीवन के संघर्ष में उतरकर प्राप्त करना होगा और तभी आप भारत के सफल नागरिक समझे जायेंगे। हमारे और आपके समक्ष भारत की पराधीनताकी जटिल समस्याएँ सबसे बृहत्तर रूप में उपस्थित हैं। देश पराधीनता की शृंखलासे मुक्त किये बिना आपका साहित्य अवरुद्ध रहेगा, आपकी वाणी मूक रहेगी और आपकी भाषा मुखरित नहीं होगी। घोर अधःपतन और दरिद्रता के होते हुए भी भारतकी शालीनता और महानता प्रथम कोटिकी रही है। यद्यपि हमारा देश अपनी पुरानी परम्परा और वर्तमान कठिनाइओंसे बहुत ही दबा हुआ है, तो भी अन्दर से निखरती हुई मनोरम सौंदर्य—कान्ति उसके जीर्ण शरीर-पर चमकती है। उसके अणु-परमाणु में अद्‌भुत विचारों, स्वच्छंद कल्पनाओं एवं उत्कृष्ट मनोभावों की झलक दिखायी देती है। उसके वृद्ध शरीरमें अब भी आत्मा की अद्‌भुत भव्यता झलकती है। अपनी इस लंबी यात्रा में वह कई क्रान्ति-कारी युगों से होकर गुजरा है और मार्ग में उसने बहुत ज्ञान तथा अनुभव संचित किया है। हमारे ऋषियों की कुशाग्र बुद्धि सदा अनुसंधान में लीन रहती थी। सघन तरुकी छाया में बैठकर ऋषियों की परिषदें नवीनता की खोज करती थीं, इतिहास के उषःकाल में किये गये उनके खोज का खजाना, उपनिषदों में संचित हैं। ज्ञान और प्रकाश के लिये सत्य की शोध करने में वे व्याकुल रहते थे। 'असतो मा सद्‌गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय'—अर्थात्—मुझे असत् से सत् की ओर ले जा, मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले जा, मुझे मृत्युसे अमरताकी ओर ले जा; यही उनके जीवन का ध्येय था! यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से प्रायः इस देश के टुकड़े-टुकड़े होते रहे हैं, परन्तु उस की आध्यामिकता ने सदा ही अपनी सर्व-सामान्य संस्कृति की रक्षा की है; और

उसकी विविधिताओं में हमेशा एक विलक्षण एकता रही है। "दी फ्यूचर ऑफ ईस्ट एण्ड वेस्ट" में सर फ्रेडरिक व्हाइट ने भी यह स्वीकार किया है कि—"भारतवर्ष में सब से बड़ी परस्परविरोधी बात यह है कि उसकी विविधताओं के भीतर एक भारी एकता समाई हुई है, जिसका प्रभाव भारत में आक्रमणकारी के रूप में आनेवाली प्रत्येक जाति के जीवन, सभ्यता, संस्कृति साहित्य एवं कला पर पड़ा है।" आपका कर्तव्य है कि अपने देश की इन शाश्वत विविधताओं के भीतर से उस एकता को सुरक्षित रक्खें, जो आप को पूर्वजों से विरासत के रूप में मिली है। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई है कि 'बम्बई-हिन्दी विद्यापीठ' ने अपने १९४५ के पाठ्यक्रम में नागरिक-परीक्षाओं की भी व्यवस्था की है। नागरिक परीक्षाओं का उद्देश्य है कि परीक्षार्थी में नागरिक कहलनेकी क्षमता और विविध विषयोंका सैद्धांतिक, परिचयात्मक एवं प्रावेशिक ज्ञान हो। मनोविज्ञान, ललितकला, राजनीति, संस्कृति आदि विषयों में भी चर्चा करके वह ज्ञानवर्धन कर सके। मैं यह कहनेकी आवश्यकता नहीं समझता कि सफल नागरिक बनने के लिये राजनीतिक चेतना और आर्थिक क्रम-विकास का ज्ञान होना भी अनिवार्य है।

\+ \+ \+

विदेशी शासकों ने हमारे देश के बारेमें जो अनेक अवांछनीय दन्तकथाएँ संसार भर में फैला रखी हैं, उनमें से एक यह भी है कि भारतवर्षमें कईसौ भाषाएँ बोली जाती हैं। मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट हमें यह बतलाती है कि भारतमें क़रीब दोसौ भाषाएँ या बोलियाँ हैं। भारतवर्ष के क्षेत्रफल को देखते हुए इतनी कम भाषाओं का होना आश्चर्यकी बात नहीं है। यदि युरोपके इतनेही क्षेत्रफल को लेकर मुकाबला करें, तो भाषा की दृष्टि से भारतवर्षमें इतने अधिक भेद नही मिलेंगे। साधारणत: नाममात्रका किंचित भेद होने पर भी वैज्ञानिक भिन्नता बताने के लिये बोलियों को पृथक भाषा मान लिया जाता है। भारतकी जनतामें अशिक्षा का घोर अंधकार होने के कारण यहाँ भाषाओंका समान मापदण्ड नहीं बन सका और कई बोलियाँ बन गई। हिन्दी, उर्दू, गुजराती, मराठी, बंगला,

तामिल, तेलगु, मलयालम, और कन्नड़ इस देशकी मुख्य भाषाएँ हैं। इनमें अगर आसामी, उड़िया, सिन्धी, पश्तो और पंजाबी को भी जोड़ लिया जाय तो सारे देश की भाषाएँ इनमें आ जाती हैं। उत्तर, मध्य और पश्चिम भारत में प्रचलित भाषाएँ प्राय: आपस में मिलती हैं, और दाक्षिण भारत की द्रविड़ भाषाएँ भिन्न होते हुए भी संस्कृत से काफी प्रभावित हैं। उनमें संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दोंका भी बाहुल्य है। हमारे देश की इन भाषाओं का प्राचीन साहित्य बड़ा उच्च और धनी है। और देश की पराधीनता का यह घोरतम अभिशाप है कि वर्तमान शिक्षित समाज विदेशी भाषाओं का ज्ञानार्जन तो करता है, किन्तु अपने देश की भाषाओं से वह वंचित रहता है। हमारे राष्ट्रीय जीवन की यह एक बहुत बड़ी कमजोरी है। लेकिन उठती हुई तरुणाई का तकाजा है कि वह विदेशी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के साथ ही साथ स्वदेशी भाषाओं की पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर के अपने राष्ट्रीय-चिन्तन की प्रखर-धारा को प्रवाहित एवं पुष्ट करे। आज के युग में राजनीतिक समाजवाद जीवन के नैतिक पहलुओं को भी नवीन मूल्यांकन दे रहा है। भारतीयों को अपनी भाषा के क्रमविकास एवं ज्ञानविकास के साथ ही अपने जीवन में, साहित्य में, और समाज में, परिवर्तनशील यथार्थवाद को अपनाना होगा! केवल साहित्य, कला अथवा काव्य के राजहंस पर बैठकर भावाकाश में संगीत की लहरियों के साथ विहार करने का समय यह नही हैं।

× × ×

रूप और रुपया लेकर आजका अन्तरराष्ट्रीय जगत् न्यस्त स्वार्थों का-शतरंज खेल रहा है। आज व्यक्ति-व्यक्ति में और राष्ट्र-राष्ट्र में द्वन्दात्मक भौतिकवाद के कारण एक स्थूल संघर्ष छिड़ा हुआ है। तदनुसार सबका स्थूल लक्ष्य भी समान है। वह है रूप और रुपया। प्राकृतिक विज्ञान के अद्भुत आविष्कृत चमत्कारों के कारण व्यवसायवाद एवं व्यापारवाद की वृद्धि हुई है। इसमें लक्ष्मी की उपासना प्रधान बन गई है। आजकल भले कहे जानेवाले भद्र पुरुष ईश्वर में

केवल मौखिक भक्ति ही प्रदर्शित करते हैं। उनकी हार्दिक एवं वास्तविक भक्ति मुद्रादेवी के लिये अछूती रहती है। इस जीवन-नाशक भक्ति ने मनुष्य की पाशविक वृत्तियों को सचेत बना डाला है। इस स्थलपर अंग्रेजी साहित्य के एक अमर कलाकार और कवि लॉंगफेलोकी एक निम्नलिखित कविता स्मरण हो आती है कि—

" Were half the power that fills the world with terror,
Were half the wealth bestowed on camps and courts
Given to redeem the human mind from error,
There were no need for arsenals not forts ! "

अर्थात्:—" जिस शक्तिसे आज संसार संत्रस्त है और जो धनराशि शाषन अथवा न्याय के नामपर स्वाहा की जाती है। यदि इसका अर्द्धांश भी जनसमाज की बुराई दूर करने में लगा लिया जाय तो फिर शस्त्रागारों और दुर्गों की आवश्यकता ही न रहे ! " किन्तु साम्राज्यवाद की ऐश्वर्य की लिप्साने मानवको अंधा बना दिया है। जिन के हाथों में राष्ट्रोंके शासन को संचालन करनेकी बागडोर है, वे ज्ञानशून्य एवं कर्तव्यच्युत होकर लोकोपकार, स्वाधीनता, शांति एवं सुरक्षाके नामपर इन्हीं आदर्शोंका खून कर रहे हैं। मनुष्य यंत्र बनकर प्रताड़ित हो रहा है और आत्मप्रवंचना ने उसे उन्मत्त कर दिया है। इस सर्व-संहार के युगमें प्राणी के लिये एक ही अवलम्ब है—प्रकृति। विज्ञान का काम है–प्रकृति को मिटा देना; साहित्यका पुण्य है–प्रकृति को अजस्र बनाये रखना। नवजीवन का सृजन करने के लिये प्रकृति को विज्ञान रोक नहीं सकता। और अगर जीवन है तो साहित्य भी है। एक ऐसे तमस्-युगमें, जब कि समस्त दिशाएँ धुएँ से ओझल और कोलाहलसे आक्रांत हैं, और महाकवि मिल्टन के शब्दोंमें सामने अंधकार छाया हुआ है, तथा पीछे से खतरे की आवाज आ रही (Darkness before and danger's voice behind) है, ऐसी विषम परिस्थितियों में जीवन के पद-चिन्हों को साहित्यमें ढूँढना आवश्यक हो जाता है। राष्ट्रों द्वारा प्रज्वलित युद्ध की विभीषिकामें जीवन की आहुति दे देना ही क्या मानवता की तपस्या है ? क्या भावुक तरुणाई

बुढ़ापेका तजर्बा हासिल किये बिना जीवन-डगरके बीचमें ही, तोपोंके भैरवनाद और बमोंके विस्फोटमें नष्ट हो जाना श्रेयस्कर समझती है ? इसे तो मैं, अनुभव द्वारा यौवनके जोशका आत्म-शोषण करना कहूँगा। आत्मदानकी सफलता एवं साधना मात्र यही नहीं है। —

"मत कहो कि यही सफलता
कलियों के लघु जीवन की,
मकरंद भरी खिल जायें
तोड़ी जायें बे -मन की"—'प्रसाद'

× × ×

मित्रों; आज हम जिस युगमें रह रहे हैं, जिन क्षणोंमें मैं आपके सामने उपस्थित होकर अपने उद्‌गार प्रकट कर रहा हूँ, यह युग और यह घड़ी बड़ी संकटपूर्ण है—विपत्तियोंके बादल मानवताके भविष्यको आँखोंसे ओझल किये हुए हैं। सुनहला भविष्य देखनेके लिये हमें वर्तमानकी कठिनाइयोंसे गुजरना होगा। संसारमें क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। नया युगान्तर होनेवाला है। अगर स्वाधीनता चाहते हो तो समानता की शिक्षा ग्रहण करो। स्वतंत्रता यदि पहाड़के उच्चतम शिखरके समान है, तो समानता उसकी आधार-भूमि है। समानता प्राथमिक पाठशालामें पढ़नेवाले बच्चेके पाठ्यक्रम की पहली पुस्तक है। और स्वाधीनता आचार्यत्वकी सफलता है; जीवनकी परिणिति है! इसलिये मैं तो आपसे यही कहूँगा कि जीवनमें समानता और स्वाधीनताके आदर्शोंको अपनाकर ही जीवनपथपर चलनेका अपना लक्ष्य बनाइए; जिस प्रकार नीलाकाशके प्रशस्त अंचलपर हीरक-खंडसे जगमगाते हुए असंख्य नक्षत्र प्रकाश-पुंज बनकर अपने अस्तित्वका परिचय दिया करते हैं. उसी प्रकार हमारी आत्मा सत्यकी खोजमें जागरूक रहकर शाश्वत सत्यके लिये सिर याने मस्तकका सौदा करनेके लिये हमें प्रेरित करती रहती है! हमें विश्राम पानेकी आकांक्षा न रखकर संघर्षके झंझावातमें सगर्व चल पड़नेकी शक्ति अर्जित करनी चाहिये। युगकी व्याकुल तरुणाईकी आकांक्षाको महाकवि 'चकबस्त' ने दो सतरमें व्यक्त किया है—

"चलती है इस चमन में हवा इन्क़िलाबकी
शबनम को आये दामने-गुलमें करार क्या!"

जब क्रान्तिके झोंके चल रहे हों, तो फूलोंकी पंखड़ियों पर शबनमके दानेकी तरह पड़े ओस-कणोंको पुण्यकी परागभरी गोदमें बैठनेका आनन्द नहीं मिल सकता! राष्ट्र-भाषा हिन्दीको आपसे बड़ी आशाएँ हैं। राष्ट्रीय एकीकरण के लिये राष्ट्रभाषाका होना अनिवार्य है। संभवतः अपने जीवनमें पगपग पर इस महत्वको आप सदैव स्मरण रखेंगे। अंतमें जॉन ब्राइट के शब्दोंमें मैं आपसे यही कहूँगा कि "आप जीवन-संघर्षमें निर्भीक बने रहें, और अन्यायके सामने कभी नमस्तक न हों।" सेवाग्रामका संत लोक जीवनकी यही वाणी सुना रहा है, लोक जीवनको सँवार रहा है, लोक जीवनके लिये मरनेका व्रत लेकर लोक जीवनके लिये ही जीवित है। उसकी वाणी अमर है, और उस वाणीमें बोलनेवाले प्रत्येक प्राणी अमर हैं। वाणीकी इस अमरताको ही हम जीवनका महानतम वरदान मानते हैं।

वन्देमातरम्



**बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ उत्तर-विभाग.**
**प्रमाणपत्रवितरणोत्सव**
ता० २८ जानवरी १९४५। रविवार

# ज्ञानदीक्षा

बहनो और भाइयो,

आपने जो मुझे यहाँ बुलाया है वह मुझे ऐसा जान पड़ता है, मानो पश्चिम-भारतने प्रीतिपूर्वक पूर्व-भारतको निमन्त्रित किया है। मैं भी पूर्व-भारतकी प्रणतिको पश्चिम-भारतके इस देवमन्दिरमें श्रद्धा-पूर्वक वहन करके लाया हूँ। हमारे इस देशमें देवताके पूर्णाभिषेकका यह नियम है कि उक्त देवताके समस्त धाम और क्षेत्रोंसे तीर्थोदक लेआना पड़ता है। एक तीर्थके जलसे अभिषेक अधूरा रहजाता है, इसीलिए तीर्थयात्री नाना क्षेत्रोंसे तीर्थोदक लाकर देवताका पूर्णाभिषेक करते हैं। अन्तर और बाहरसे विशुद्ध हुए बिना सर्व तीर्थका जल संग्रह करनेकी योग्यता भी नहीं होती। श्रद्धाका चिन्मय तीर्थोदक वहन कर सकना और भी कठिन कार्य है। मैं अपनेको उसके योग्य नहीं समझता। फिरभी आप लोगोंके स्नेहके ज़ोरसे मुझे यह दुःसाध्य भार ग्रहण करना पड़ा है। परन्तु यद्यपि आपने भार मुझे दिया है, फिरभी मुझे नाम - मात्रका ही दायित्व स्वीकार करना है। क्योंकि सब कुछ तो आप ही करेंगे। मैं तो निमित्त-मात्र हूँ। देवताका रथ खींचनेकेलिए काठका घोड़ा लगाया ज़रूर जाता है, यद्यपि खींचते उसे भक्त लोग ही हैं। मैं भी इस अनुष्ठान-रूपी रथका काठका घोड़ा हूँ। खींचना आपको ही पड़ेगा।

आपके विद्यापीठका नाम है 'बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ'। अर्थात् हिन्दी भाषा और हिन्दी संस्कृति ही आपका प्रधान लक्ष्य है। हमारे देशमें विद्या और संस्कृतिकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती हैं। मुझे यह देखकर संतोष

और हर्ष है कि आजके उत्सवमें बहनोंकी संख्या काफ़ी अधिक है। विद्या और संस्कृतिके इस पीठ-स्थानमें बहनोंका न होना बहुत ही खटकता, पर यहाँ उन्हें देखकर मुझे परम आनन्द होरहा है। आपके इस पश्चिम-भारत में पूर्व-भारतकी अपेक्षा स्त्रियोंका सामाजिक स्थान अच्छा है। फिरभी सामाजिक दृष्टिसे चाहे न हो, किन्तु धर्म और साधनाकी दृष्टिसे पूर्व-भारत स्त्री-जातिको आद्या-शक्तिके रूपमें बराबर देखता आया है। वहाँ शक्ति का स्थान शिवसे ऊपर ही है। पूर्वीय वैष्णवोंके अनुसार भी भगवान्‌की आह्लादिनी शक्तिके रूपमें उनका स्थान बहुत ऊँचा है। वस्तुतः जैसा कि भगवान् शंकराचार्यने कहा है शक्ति बिना शिव कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं हैं—

*शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं*
*न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।*

अर्थात् शिव यदि शक्तिसे युक्त हों तभी समर्थ होते हैं। ऐसा न हो तो शिव हिलनेमें समर्थ न हों।

यहाँ इस महत्साधनामें पुरुषोंके साथ - साथ स्त्रियोंको भी समान भावसे उद्योगी देखकर मुझे पूरी आशा होरही है कि यह साधना सार्थक होगी। मेरी इस आशाका कारण है—हमारे शास्त्र कहते हैं कि जब-जब पुरुष-शक्ति परास्त हुई है तब-तब नारी-शक्तिकी तपस्याने ही उसकी रक्षा की है। दैत्योंने जब देवताओंसे स्वर्ग - राज्य छीनलिया था तब उन्हें नारी-शक्तिकी ही शरण लेनीपड़ी थी। गौरीने अपनी कठिन तपस्यासे देवत्वको नष्ट होनेसे बचालिया था। शास्त्र बताते हैं कि जब-जब देवत्व खतरेमें पड़ा है, संसारका जोकुछ श्रेष्ठ है, जोकुछ उत्तम है, वह लुप्त होनेको आया है, जब-जब पुरुषका दर्प और कूटनीति असफल हुई है, तब-तब नारीकी तपस्याने ही उसका उद्धार किया है।

भारतवर्षमें स्त्रीका अधिकार नाना क्षेत्रोंमें क्रमशः संकुचित होता

आया है, पर धर्म और साधनाके क्षेत्रमें वह कभी संकुचित नहीं हुआ। मेरा जन्म काशीमें हुआ था। मेरे जीवनका बहुत उत्तम अंश काशीमें ही बीता है। मैं इसीलिए जब कहता हूँ कि हमारे देशमें साधना और धर्मके क्षेत्र में पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीका प्रवेश ही अधिक है, तो मैं ऐसा कहसकनेका अपनेको अधिकारी मानता हूँ। मैंने अच्छी तरह देखा है कि जहाँ धार्मिक भाव और आध्यात्मिकताका लेश है वहाँ नारीकी श्रद्धाका अभाव नहीं है। आपने अपने इस विद्या-क्षेत्रको यदि साधना-क्षेत्र बनाया तो मुझे कोई सन्देह नहीं कि हमारी बहनें अधिकाधिक संख्यामें अपनी श्रद्धा लेकर यहाँ उपस्थित होंगी।

आजके इस अनुष्ठानको मैं संस्कृतिका राजसूय-यज्ञ समझता हूँ। राजसूय-यज्ञमें नाना प्रदेशसे नाना भाँतिका उपहार आवश्यक होता है। इसके बिना राजसूय-यज्ञ नहीं होसकता। आपके यहाँ कर्नाटक, महाराष्ट्र, कोंकण, गुजरात, मलबार, उत्तर-भारत आदि नाना प्रदेशोंके सुधीजन अपना प्रेमोपहार लेकर उपस्थित हुए हैं। परन्तु इस उपहारको रखसकने का पात्र कहाँ हैं? सांस्कृतिक उपहारका पात्र है भाषा। आप उसी वाङ्मय पात्रकी रचनामें दत्तचित्त हैं। बिना इस वाङ्मय-पात्रके राजसूय सफल नहीं होगा। आदर्श और साधनाकी एकता मनुष्यको एकता जरूर देती है, परन्तु भाषाकी भिन्नता मनुष्यकी इस एकताको जाग्रत नहीं होनेदेती। यूरोपीय प्राचीन कथामें सुनाजाता है कि भाषाकी विभिन्नताके कारण ही 'टॉवर ऑव बैबेल' टूटपड़ा था, और वही मनुष्य जो इस महती साधना केलिए दिन-रात एक कररहे थे भाषाकी विभिन्नताके कारण आपसमें ही लड़नेलगे थे और उन्होंने अपनी ही निर्माण कीहुई वस्तुको स्वयं ही गिरा दिया था।

किन्तु भाषा यद्यपि एकताका प्रधान वाहन है, परन्तु वही एक-मात्र ऐक्य-विधायक उपादान नहीं है। औरभी वस्तुएँ हैं जो एकताको बनाये रखनेमें या नष्ट करदेनेमें महत्वपूर्ण भाग लेती हैं। इतिहासमें एक

भाषा भाषी लोगोंका झगड़ना दुर्लभ घटना नहीं है। अमेरिका और इंग्लैंड में जो लड़ाई हुई थी वह भी एक ही भाषाके होतेहुए भी। महाभारतकी लड़ाई क्या भिन्न भाषा-भाषियोंमें हुई थी? हमें भाषाकी साधना करते समय इन अन्य महत्त्वपूर्ण वस्तुओंको भूल नहीं जाना चाहिए। आज अगर आप खुली नज़रोंसे देखें तो आपको इस बातमें कोई सन्देह नहीं रहजायगा कि एक भाषाकी आवाज़ उठाते हुए भी हममें प्रादेशिकता और साम्प्रदायिकता प्रवेश कररही है और दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ भी रही है। क्योंकि भाषा ही एकमात्र एकताका हेतु नहीं है, और भी बहुत सी बातें हैं। उनकी उपेक्षा करनेसे हम 'एक भाषा' की प्रतिष्ठा करने में भी पद-पदपर बाधा अनुभव करेंगे। फिरभी इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा एक प्रधान और महत्त्वपूर्ण सेतु है। भाषाकी सहायताके बिना हम अपने अत्यन्त निकटस्थ व्यक्तिको भी नहीं बुलासकते।

सभ्यताओंके इतिहासके अध्येताओंने लक्ष्य किया है कि प्रायः प्रत्येक प्राचीन सभ्यता एक-एक नदीको आश्रय करके विकसित हुई है। ठीक भी है। नदी अपने प्रवाहसे नाना प्रदेशोंको युक्त करती है। किन्तु भाषा औरभी ज़बर्दस्त योग-विधायक है। नदी तो केवल बाह्य-सभ्यता के विकासमें सहायता पहुँचाती है, परन्तु भाषा तो जीवन्त प्रवाह है जो अन्तर-अन्तरमें योग स्थापन करती है। यहाँ भाषासे मेरा उद्देश्य यह नहीं है कि जिस-किसी ज़मानेकी भाषा या जिस-किसी देशकी भाषा योग-स्थापन का कार्य करती है, नहीं; योग-विधायिनी भाषा वही होसकती है जो सर्व-साधारणकी अपनी हो, अपने कालकी और अपने देशकी। कबीरदासने भाषा अर्थात् बोली-जानेवाली भाषाकी इसीलिए 'बहते नीर' से उपमा दी है और संस्कृतकी 'कूप जल' से—

*संस्कृत कूप जल कबीरा भाषा बहता नीर*

आज हम केवल राजनीतिक दासताके बन्धनसे ही जकड़े हों ऐसी बात नहीं है। इससे भी भयंकर बन्धन हमारे अपने तैयार कियेहुए

हैं जो भीतरके भी हैं, बाहरके भी। हमें उन सबसे मुक्त होना है। अपनी इस मुक्तिकेलिए हमें उपयुक्त तीर्थ-स्थान खोज निकालना होगा। जहाँ दो नदियोंका समागम होता है वह संगम-क्षेत्र इस देशमें बहुत पवित्र माना जाता है; जहाँ और भी अधिक नदियोंका संगम हो वह तीर्थ और भी श्रेष्ठ होता है। तीन नदियोंके संगमसे प्रयागका माहात्म्य इतना अधिक है कि वह तीर्थराज कहलाता है। काशीमें छोटे-छोटे नालोंके संगमका भी जहाँ अधिक समावेश हुआ है उस पवित्र पंचगङ्गा घाटको अशेष पुण्यदाता माना गया है। अपनी मुक्तिकेलिए भी हमें साधनाओं और संस्कृतियोंका संगम ढूँढ निकालना होगा। भाषाको केवल भाषा मानकर हम चुप नहीं रहसकते। हमें उसे संस्कृतियों, विद्याओं और कलाओंका महान् संगम-तीर्थ बनादेना होगा। अंग्रेज़ी भाषाकी महिमा इसलिए नहीं है कि वह हमारे मालिकोंकी भाषा है; बल्कि इसलिए कि उसने संसारकी समस्त विद्याओंको आत्मसात् किया है। अंग्रेज़ न भी रहेंगे तो भी उनकी भाषाका आदर ऐसा ही बना रहेगा। हिन्दीको भी यही होना है। उसे भी नाना संस्कृतियों, विद्याओं और कलाओंकी त्रिवेणी बनना होगा। बिना ऐसा बने भाषाकी साधना अधूरी रहजायगी। आप लोग, जो आज इस साधनाकेलिए व्रती हुए हैं, यह बात न भूलें। भाषा हमारेलिए साधन है, साध्य नहीं; मार्ग है, गन्तव्य नहीं; आधार है, आधेय नहीं।

बुतपरस्तीको छोड़ना सहज नहीं है। कभी-कभी वह नाना छद्मवेष धारण करके हमारे बीच बनीरहती है। और यद्यपि हम हल्ला-गुल्ला करके औरोंकी बुतपरस्ती दूर करनेका अभिमान करते हैं, फिर भी वह हमारे पीछे लगी ही रहती है। कभी कभी हम देवकी पूजा न करके देहर (मूर्तिके घर) की पूजा करने लगते हैं। आधेयको भूलकर आधारकी पूजा कुछ ऐसी ही है। जितना बड़ा भी प्रेमी हो, वह यदि रोज़ एक लिफ़ाफ़ा ही भेजे, चिट्ठी नहीं, तो प्रेमिकाका धैर्य कबतक टिका रहसकता है? और फिर यदि यह लिफ़ाफ़ा बैरंग हो तब तो कहना ही क्या है? कबतक कोई केवल इस बातसे संतोष

करसकता है कि लिफ़ाफ़ा प्यारेके हाथका भेजा हुआ है! कुछ पत्र भी तो हो, कुछ समाचार, कुछ प्रेम-सम्भाषण, कुछ नई जानकारी। भाषा महज़ एक लिफ़ाफ़ा है। सो भी बैरङ्ग, क्योंकि इसे पानेकेलिए परिश्रम ख़र्च करना पड़ता है। उसमेंका पत्र और उसमें लिखा हुआ साहित्य विज्ञान-सम्बन्धी सत्य हैं। हमें लिफ़ाफ़ेका भी ध्यान ज़रूर रखना चाहिए, क्योंकि वही प्रेम-पत्रको सुरक्षित रूपसे पहुँचाता है, पर पत्रकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आजकी सबसे बड़ी आवश्यकता है कि हम हिन्दी-भाषाको नाना शास्त्रों और विद्याओंसे भरदें।

एक तरहके लोग हैं जो उन्हीं बातोंमें सत्यका स्पर्श अनुभव करते हैं, जो सुदूर-कालमें कहीगयी थीं—इन्हें सनातनी कहते हैं। एक और तरहके लोग हैं जो दूर देशमें कहीगयी बातोंको ही प्रामाणिक मानते हैं—इन्हें क्या कहते हैं, मालूम नहीं। पर यह दोनों हैं एक ही जातिके। एक काल-गत सनातनी हैं, दूसरे देश-गत। परन्तु सत्य वस्तुतः सब कालका है और सब देशका। इसीलिए जो जिस श्रद्धाका पात्र है, वह स्वदेशी हो या विदेशी, आजका हो या प्राचीन कालका, हमें उसे वह श्रद्धा देनी ही चाहिए। हमारे इस अनुष्ठानमें हमें प्राचीन और नवीन, इस देशकी और अन्य देशोंकी समस्त विद्याओंको निःसंकोच स्वीकार करना होगा। तभी हम उसे महान् बना सकेंगे। यदि यहाँ हमने किसी प्रकारकी स्थान-गत या काल-गत संकीर्णताको मनमें आने दिया तो, यद्यपि हम कुछ लोगोंसे वाहवाही पा सकेंगे, परन्तु वह सांस्कृतिक आत्मघात ही सिद्ध होगा। ऐसा देखागया है कि पृथ्वीके नाना भाँतिके आत्मघातोंमें वाहवाही भी मिलती है, परन्तु अन्ततोगत्वा आत्मघात—आत्मघात ही है।

आपको शायद आश्चर्य होरहा है कि इस शुभ अनुष्ठानके अवसर पर मैं अशुभ बात क्यों कहरहा हूँ। कहरहा हूँ मानसिक दुःख से। हम मुँहसे जितना भी 'स्वाधीनता' आदि नाम क्यों न लें, भीतरसे हमारे अन्दर आदिम युगकी तानाशाही—पूजा ज्यों-की-त्यों बनीहुई है। इसीलिए

हम किसी विशेष काल या विशेष देश को अपना डिक्टेटर मान लेते हैं और उसकी पूजा करने लगते हैं। जब इस युगमें मैं मनुकी व्यवस्थाओं को शासन करते देखता हूँ, या इस देशमें यूरोपके आदर्शोंकी पूजा होते देखता हूँ, तो बरबस मुझे यह बात याद आजाती है। इसीलिए कहता हूँ कि हिन्दी-भाषामें जिस साहित्यका हम निर्माण करें उसमें इस विशेष पूजाके अभ्यासी न होजाँय। आप मुझे ग़लत न समझें। मैं न तो मनुका ही कम आदर करता हूँ और न योरोपीय आदर्शोंका ही। मेरा विरोध किसी बातको एकमात्र प्रमाण मानलेनेसे है।

बहुतसे लोगोंकी भाँति मैं यह नहीं मानता कि समस्त काल और समस्त देशके साथ हम समान भावसे साम्यकी रक्षा नहीं करसकते। एक मामूली अशिक्षित बालिका भी एकही साथ अपने पिताके प्रति आदर-भाव रखसकती है और साथही अपने पतिके प्रति भी। पिताके प्रति आदर और प्रेम होना किसी प्रकार उसके पति-प्रेममें बाधक नहीं होता और न ये दोनों बातें उसके भावी पुत्र-प्रेममें विघ्न-रूप होउठते हैं। एक सामान्य बालिका भी आसानीसे अतीत, वर्तमान और भविष्यके प्रति अपना कर्तव्य निबाह लेजाती है। वनस्पतिके बीजको देखिए। कितनी पीढ़ियोंकी परम्परा लेकर वह आया है और भविष्यमें भी न जाने कितनी परम्पराओं को वह उत्पन्न करेगा। यह ग़लत बात है कि हम सर्व देश और सर्व कालके प्रति अपना कर्तव्य नहीं पालन करसकते।

यह मानव-मानवके प्रति जो योग है वह इतनी बड़ी चीज़ है कि मनुष्यने अपनी सर्वोत्तम साधनाका नाम ही दिया है—साहित्य (सहित का भाव)। यह साहित्य ही मुख्य वस्तु है। भाषा तो उसका आधार-पात्र-भर ही है। इसी भाषा और साहित्यके बलपर मनुष्य ज्ञान, कर्म और संस्कृतिमें पशुको बहुत पीछे छोड़ गया है। क्योंकि इसीके द्वारा उसका योग समस्त काल और समस्त देशसे स्थापित होसका है। भाषा और

साहित्यको अस्वीकार करना उस महान् योगको ही अस्वीकार करना है। इतना बड़ा आत्मघाती विद्रोह और कुछ नहीं है।

हमारे बृहत्तर जीवनमें योग-साधनका कार्य करती है भाषा, उसी प्रकार जिस तरह गृह-परिवारके जीवनमें योग-स्थापन करती है माता। क्योंकि बच्चोंमें आपसी झगड़े कितने भी क्यों न हों, वे स्नेहमयी माँकी गोदमें बैठकर सभी द्वन्द्व और झगड़े भूलजाते हैं। जिस प्रकार सच्ची माता सन्तानोंके भेद-विभेद बिना दूर किये नहीं रहसकती, उसी प्रकार सच्ची भाषा और सच्चा साहित्य भी अपनी सन्तानका भेद-विभेद दूर किये बिना नहीं रहसकता। भाषा और साहित्यका स्थान भी माताका-सा ही है।

आप कहेंगे कि माता भी कभी मिथ्या होती है? माँ तो सदा सच्ची ही होती है। हमारे देश में जिस भाषाको माता कहा गया है, उस मातृ-भाषाकी गोदमें ही तो हम सबने जन्म लिया है। उसी माताने हमारे चिन्मय स्वरूपकी सृष्टि की है। वह माता मिथ्या कैसे हो सकती है? वस्तुतः जब वह माता हमारे चिन्मय स्वरूपकी सृष्टि करती रहती है तब सच्ची ही होती है; किन्तु जब हम उस माताकी सृष्टि करनेका ध्यान करने लगते हैं तो वह निश्चय ही मिथ्या होउठती है। माताको सन्तान नानाविध अलङ्कारों और महनीय वस्त्रोंसे अलंकृत करे—यह तो उचित है; बल्कि सन्तानका यह कर्तव्य भी है कि वह माताको अधिकाधिक समृद्ध और तृप्त करता रहे, पर स्वयं वह माताको ही बनाने लगे, यह तो एकदम समझमें आनेवाली बात नहीं है। हम भाषारूपी माताको नानाभावसे—कला-साहित्य-विज्ञानसे—समृद्ध और अलंकृत करसकते, हैं पर उसे काट-छाँट, गढ़-छोलकर नयी माता बनानेका प्रयत्न करना नितान्त दम्भ-मात्र है।

किन्तु हमने माताको मिथ्या बनाना शुरू करदिया है। प्रमाण यह है कि हम मुँहसे तो एक ही माताकी बात कहते जारहे हैं परन्तु वस्तुतः हमारे भीतरके नाना प्रकारके भेद-विभेद, साम्प्रदायिकता, प्रादेशिकता

आदि बढ़ते ही जारहे हैं। क्या हमें घूमकर देखनेकी ज़रूरत नहीं है कि हमने माताको काट-छाँटकर ग़लत और निर्जीव मूर्ति बनानेकी कोशिश तो नहीं शुरू की है? अश्वत्थामाको दिये हुए चावलकी धोवनको चाहे जितना भी दूध कहकर विज्ञापित कियागया हो, उससे उनका बलवीर्य नहीं बढ़सका; ठीक उसी प्रकार ग़लत वस्तुको जितने ज़ोरसे भी सही कहकर क्यों न विज्ञापित कियाजाय, उससे हमारी शक्तिमें कोई वृद्धि नहीं होगी। सच्ची माताकी सृष्टि तो नहीं की जासकती पर उसे ध्वंस किया जासकता है। कभी हमने इतिहास-पुराणमें यह नहीं सुना कि किसीने माताकी सृष्टि की थी, परन्तु परशुरामकी मातृहत्या प्रसिद्ध कथा है। हम भूल न जाँय कि मातृहत्याके अपराधमें परशुरामको कितना बड़ा दण्ड आजीवन भोगना पड़ा था। एक बार जो कुठार उनके हाथ में जमगया सो जमा ही रहगया, उसे कोई हटा न सका। पिताकी आज्ञाकी दुहाई देने पर भी उनकी इस दण्ड से—इस विडम्बनासे—मुक्ति नहीं हुई। कुठार वस्तुतः नाशका प्रतीक है। यदि हमने आज विनाशसे ही आरम्भ किया तो निश्चित मानिए, यह अस्त्र हमारे हाथसे छूटेगा नहीं; हम कभी भी रचनात्मक कार्य नहीं कर सकेंगे। माताको यदि हम जीवित समझें तो क्या कभी भी उसके अङ्गच्छेदकी बात हम सोचसकते हैं? दक्ष पुत्री भवानीने जब दक्ष-यज्ञमें पतिका अपमान देखकर यज्ञानलमें प्राण देदिये थे तब नारायणने उनके शवको चक्रसे ५१ टुकड़ोंमें विभक्त करदिया। येही ५१ खण्ड इक्यावन स्थानोंमें गिरे थे और इसलिए तान्त्रिकोंके ५१ पीठ हैं। तान्त्रिक योगियोंका कहना है कि जो इन इक्यावन पीठोंकी साधना एकत्र करसकता है, उसीकी कुल-कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होती है।

जोड़-जाड़कर नारीकी सृष्टिकी कथा हमारे पुराणोंमें एकदम नहीं हो, सो बात नहीं है। परन्तु इस प्रकार जोड़ी हुई प्रतिमामें मातृत्वकी कल्पना ही नहीं कीगयी। स्वर्गकी अप्सरा तिलोत्तमा ऐसी ही नारी है। उसका काम था सबका चित्त हरण करना, मातृत्व नहीं। परन्तु पुराण

साक्षी हैं कि वह वस्तुतः किसीका भी चित्त हरण नहीं करसकी; बल्कि एक विनाशक शक्तिके रूपमें ही प्रसिद्ध होरही। भाषाको जोड़जाड़कर गढ़नेके पक्षपाती लोग इस कथाको याद रखें तो अच्छा हो। मैं आशा करूँ कि आप माताके योगेश्वरी स्वरूपके ही आराधक हैं। मैं हृदयसे चाहता हूँ कि यह विद्यापीठ इसी योगेश्वरी स्वरूपकी साधनाका क्षेत्र हो।

तन्त्र-शास्त्रोंमें दो प्रकारकी दीक्षाओंकी चर्चा है। स्पर्श-दीक्षा और दीप्त-दीप-दीक्षा। पारस पत्थरके स्पर्शसे लोहा सोना होजाता है किन्तु स्वयं पारस नहीं बनजाता। दूसरेको स्पर्श करके वह सोना नहीं बना सकता। यह बहुत ऊँची बात नहीं है। परन्तु दीप्त-दीपके स्पर्शसे अदीप्त-दीप जल उठता है और उतना ही प्रकाश देने लगता है जितना पहला। साथ ही अन्य दीपको प्रदीप्त करनेकी शक्ति भी उसमें आजाती है। यही दीप्त-दीप-दीक्षा है। पूर्णाभिषिक्त साधकको यही दीक्षा लेनी पड़ती है। मैं आशा करता हूँ कि आपके इस विद्यापीठमें आप यही दीप्त-दीप-दीक्षा लेने आये हैं। इस दीक्षासे जो दीक्षित हैं वे यह न भूलें कि भारतीय ज्ञानकी तपस्या कोई व्यक्तिगत सुख-समृद्धिकी तपस्या नहीं है। वह सबके अभ्युदयकेलिए है। इसीलिए प्राचीनकालमें ब्रह्मचारीकी तपस्याका आवश्यक आयोजन समाजको करना पड़ता था और ब्रह्मचारी भी स्नातक होनेके बाद अपनी विद्या अपने स्वार्थकेलिए बेच नहीं सकता था। वह समस्त समाजकी सम्पत्ति होती थी। इस विषयमें पश्चिमी ज्ञान-साधनासे भारतीय ज्ञान-साधना एकदम भिन्न वस्तु है। वहाँ विद्या व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है और उससे व्यवसाय किया जासकता है। भारतवर्षमें ऐसा नहीं है।

यहाँके गुरु यद्यपि दरिद्र होते थे तथापि समाजमें उनके गौरवका अभाव नहीं था। मनुष्यको अधिकांश धनकी आवश्यकता अपनी महिमाके प्रचारकेलिए होती है। भारतवर्षमें यह महिमा अपने आप गुरुओंको मिलजाया करती थी। इसलिए वे धनकी बहुत आकांक्षा भी नहीं करते

थे। यूरोप और अमेरिकामें गुरुका वह सम्मान नहीं था। इसीलिए क्षति-पूर्ति रुपयोंसे कीजाती थी। इसीलिए यूरोप अपने सर्वोत्तम गुरुको रुपयेके बलपर खोजता है जबकि भारतवर्ष सम्मान और भक्तिके द्वारा। हमारी भयङ्कर दुर्गति यह है कि आज न तो हम अपनी पूर्व परम्पराके अनुसार गुरुजनोंको भक्ति और सम्मान ही देसकते हैं और न यूरोपकी भाँति प्रचुर धन ही। इसका नतीजा यह हुआ है कि हमारे समाजके जो लोग सर्वोत्तम हैं, वे सदा इस ज्ञान-दानके कार्यमें नहीं आते। क्योंकि इस कार्यमें न तो आज धनकी आशा है और न मानका सन्तोष। इसीलिए आज हमारे देशमें शिक्षण-कार्यमें वे लोग आनेलगे हैं, जिन्हें और किसी क्षेत्रमें काम नहीं मिलता—

"येषां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः।"

अर्थात् जिसकी और कहीं भी गति नहीं होती उसकी गति वाराणसी होती है। परन्तु यह अवस्था असह्य है। हमारी उगती हुई पीढ़ी अधिकांश क्षेत्रमें हमारे सर्वोत्तम मनुष्योंके प्रदर्शनसे वञ्चित रहजाती है। इससे दिन-पर-दिन समाजका चिन्मय जीवन क्षीण होता जारहा है। समाजको इधर बहुत पहले ध्यान देना चाहिए था। अपनी सन्तानकेलिए दूधमें गदला जल मिलादेनेके समान मूढ़ता और क्या होसकती है? हम वही कररहे हैं।

इस दुर्गतिसे रक्षा पानेकेलिए समाजके निकट हमें यह कहना है कि तुम जब अर्थ नहीं देसकते हो तो अपने हृदयकी सर्वोत्तम भक्ति इस कार्यमें व्रती लोगोंको ज़रूर दो। नहीं तो अपनी सन्तानकेलिए उत्तम पथ-प्रदर्शक पानेकी आशा हमेशाकेलिए छोड़देनी पड़ेगी। और जो लोग ज्ञानकी दीक्षा प्राप्त करचुके हैं उनके निकट हमें यह कहना है कि दुःसह दारिद्र्य वहन करके भी आप अपने देशके प्राचीन गुरुओंके महान् आदर्शको अविचलित चित्तसे अपनाये रहें। आपका कार्य तपस्या है। आपका रास्ता कष्ट-सहनका रास्ता है। आपका व्रत संसारका सबसे अधिक पवित्र और कठोर व्रत है।

हम एक तो दरिद्र हैं, दूसरे अधःपतित। समाज यदि हमारी प्रार्थना नहीं सुने और भावी गुरुगण भी यदि हमारी कातर प्रार्थना न सुनें तो हमारे देश और समाजका भगवान ही मालिक है!

दीप्त-दीप-दीक्षाकी एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि दरिद्र देशकेलिए इससे बड़ी बात और कुछ नहीं है। क्योंकि इस दीक्षामें जो दीक्षित हैं वे सभी एक-एक विश्वविद्यालय हैं। उनके चारों ओर सहयोगी-कर्मी दल रहे या न रहे, बड़े-बड़े मकान और इमारतें हों या न हों, वे स्वयं ही बिना किसी बाह्य साधनके ही सर्वसाधारणको प्रदीप्त करते रहेंगे। वे एक जगह हों तो घूम-फिरकर और विचरण कररहे हों तो सर्वत्र एक विश्व-विद्यालयके रूपमें वर्तमान रहेंगे। वैदिक युगके वशिष्ठ, जनक, याज्ञवल्क्य-जैसे बड़े-बड़े गुरुगण क्या उपदेशके लिए लम्बी-चौड़ी आलीशान इमारतोंकी अपेक्षा रखते थे? श्रीकृष्णका विश्वविद्यालय तो युद्धक्षेत्रमें चलपड़ा था! बाँसके झुरमुटोंके नीचे बैठकर बुद्ध और महावीरने कितने उपदेश दिये हैं! ज़रथुस्त्र, खीष्ट और मुहम्मद सबके बारेमें यह एक ही बात है! ग्रीसके सुकरात आदि आचार्यगण ऐसी-वैसी मामूली जगहोंपर बैठकर ही कार्य आरम्भ करदेते थे! भारतके मध्ययुगमें शङ्कर, रामानुज, नागार्जुन आदि पण्डित या कबीर, रैदास, दादू आदि निरक्षर ज्ञानी सन्त किसी इमारत या विशाल भवनकी परवा नहीं करते थे! आपमेंसे प्रत्येकको ऐसा ही चलता-फिरता विश्वविद्यालय बनना होगा। उड़ीसामें महात्मा लोगोंको 'चलन्त विष्णु' कहते हैं। यह बात मुझे बहुत भावपूर्ण प्रतीत हुई। जिस प्रकार प्रत्येक जंगम शिवके वाहक होते हैं वैसे ही आपमेंसे प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण विश्वविद्यालयके वाहक हों।

आप यह न समझें कि आपने जो ज्ञानकी तपस्या आरम्भ की है वह केवल भारतवर्षकेलिए ही है। वह समस्त संसारकेलिए है। एक समय ऐसा था कि भारतवर्षने अपनी विद्या और ज्ञानका आलोक संसारके

सुदूरवर्ती कोनोंतक पहुँचाया था। यह आलोक चीन, जापान, जावा, कम्बोडिया, मङ्गोलिया, अरब, ईरान आदि पृथ्वीके सभ्य देशोंमें गया है। वहाँके लोगोंको भी इसकी आवश्यकता थी। उन्होंने सादर इसे ग्रहण किया है। आजके जापानके युद्धवादी यह बात आज चाहे न स्वीकार करें; किन्तु जो लोग ज्ञानसाधक हैं, वे जानते हैं और स्वीकार करते हैं कि एक समय ऐसा था कि उनकी समस्त विद्या और शिक्षाके मूलमें भारतीय ज्ञान था। आजसे सोलह वर्ष पहले मैं जब कविवर रवीन्द्रनाथके साथ वहाँ ( जापान ) गया था और वहाँके ज्ञानी लोगोंसे हमारी जो बातचीत हुई थी, वह बहुत ही उत्साह-वर्द्धक और मनोरञ्जक थी। यदि समयका अभाव न होता तो मैं उसकी कहानी आपको बताता।

यूरोपमें भी आज जो सभ्यता-विध्वंसी महाप्रलयाग्नि जलउठी है वह स्वपक्ष और परपक्ष दोनोंको जलाकर समस्त सभ्यताको निःशेष करके सारे देशको भस्मराशिसे ढकदेगी। इसके बाद उसमें नये सिरेसे सृष्टि आरम्भ करनेकेलिए नवीन ज्ञान-बीजकी ज़रूरत होगी। समस्त जगत्के ज्ञानी और तपस्वी लोग उसी प्रकार ज्ञान-बीजको प्राणकी बाज़ी लगाकर रक्षा करेंगे जिस प्रकार नोआने प्रलयके समय समस्त जीव-बीज की रक्षा अपने जहाज़में की थी। इस नवीन रचनाके भावी कार्यमें क्या भारतवर्ष कोई हिस्सा नहीं लेगा ? वह दरिद्र है, संहार-कार्यमें अयोग्य है— कोई बात नहीं, पर क्या वह सृष्टि-कार्यमें भी अयोग्य ही बना रहेगा ! इस समय सारी पृथ्वीमें ऐश्वर्य और योग्यताका ताण्डव चलरहा है। उसकी सृष्टि कौन करता है ? दीन-हीन कृषकोंका दल ? वे नहीं, जो उड़ा-पड़ा कर सब समाप्त करदेते हैं। उस पवित्र रचनाका भार यदि विधाताने भारतवर्षके भाग्यमें भी कुछ लिखरखा हो तो क्या उसका कुछ अंश आपके कन्धेपर नहीं पड़ेगा ? इस भावी महासाधनाकेलिए भी आपको अपने जीवन को शुचि और सहज बनाना होगा, उन्नत और दीप्त करना होगा।

आपको उपदेश देसकूँ ऐसी योग्यता मुझमें नहीं है। किन्तु हमारा

जो दुःख है, जो अभाव है, वह हम आपसे न कहें तो कहनेकी जगह और कहाँ है ? दरिद्रके परिवारमें जो एक भी आदमी कुछ काम करने लायक होजाता है तो उसके पास कितने लोग कितनी बातोंकी फ़रमाइश करते हैं, यह आपका जाना हुआ है। आप लोग इस दरिद्र देशकी कर्मक्षम संतान हैं; आपको और भी बहुत-सी फ़रमाइशें सुननी पड़ेंगी। यह भी सुननी पड़ेगी।

दीप्त-दीपके उदाहरणसे मैंने आपको व्यक्तिगत साधनाकी बात कही है। किन्तु एक सामूहिक साधना भी है। पृथ्वीकी दीपावलीमें एक दीपका दूसरे दीपके साथ योग हो या न हो, हमारे सिरके ऊपर जो ज्योतिष्मती दीपावली आकाशमें जलरही है, उसमें परस्पर निबिड़ योग है।

हमारे इस देशके इतिहासमें 'टीम-सेन्स' (मिल-जुलकर काम करनेका भाव) का अभाव नहीं था। काशीका गङ्गाजल सेतुबन्धतक लेजाया जाता था। उसे लेजानेका क्रम इस प्रकार था कि काशीसे सेतुबन्धतक आदमी नियुक्त रहते थे। वे एक-दूसरेके हाथसे लेकर उस पवित्र जलको सेतुबन्धतक पहुँचाते थे। बंगालके कूचबिहारके राजघरानेका दीप और पुष्प भी इसी पद्धतिसे सैंकड़ों मील दूर कामाख्या मन्दिरतक पहुँचता था। मानवके भगवान्‌ने मानव जातिको रुककर खड़े होनेका आदेश नहीं दिया है। उसे चलते ही रहना होगा। अकेला न हो तो समूह करके। हम भारतमाता और मानवताकी सेवा भी इसी प्रकार संघबद्ध भावसे करसकते हैं। यह पूजा गतिशील है। जो लोग इस पूजा-प्रदीपके वाहक हैं वे खड़े नहीं होसकते। उन्हें निरन्तर चलते रहना होगा। आप भी खड़े नहीं रह सकते। आपहीकेलिए प्रसिद्ध वैदिक-मन्त्र 'चरैवेति चरैवेति' उच्चरित हुआ था। आप एक युगसे दूसरे युगतक और एक देशसे दूसरे देशतक यह पूजा-प्रदीप वहन करेंगे। ऋषिके शब्दोंमें कहूँ तो—

चरन्वै मधु विन्दति, चरन्स्वादुमुदम्बरम्।

*सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ॥*
*चरैवेति चरैवेति ।*

वे सभी देश जो समुद्र-तीरसे सटे हुए नहीं हैं या कुछ दूर पड़ गये हैं, कोशिश करते रहते हैं कि उनका सम्बन्ध समुद्रसे होजाय। क्योंकि समुद्रके साथ योग न होनेसे समस्त पृथ्वीके साथ योगस्थापन सम्भव नहीं है। हिन्दी भाषाका क्षेत्र अबतक समुद्रसे दूर था। आपकी साधनाके बल पर इस बम्बई नगरमें हिन्दीका सम्बन्ध समुद्रसे होजाय तो इस संयोगसे वह समस्त विश्वकी संस्कृतिसे युक्त होगी। इसीलिए बम्बईमें हिन्दीका पीठ स्थान स्थापित होनेका गंभीर अर्थ है। विश्वकी संस्कृतिके साथ सम्बन्ध होनेका एक दुःसह भार है। आप लोगोंको उस भारके सहनके योग्य होना होगा।

आपसे बहुत दूर रहता हूँ। आपकी कठिनाइयाँ क्या हैं, असुविधाएँ क्या हैं, इनकी कुछ भी जानकारी मुझे नहीं है। अच्छी बुरी बहुत सी बातें कहगया। किन्तु इतना मैं जानता हूँ कि जिनकी आशा और आदर्श महान् होते हैं, जगत्में उन्हें दुःख भी बहुत उठाना पड़ता है। सबसे बड़ा दुःख तब होता है जब हमारी आशा हमारी शक्तिसे बड़ी होती है। रवीन्द्रनाथने इसीलिए कहा है—

*"हे दीनवत्सल, मेरी शक्ति तो थोड़ी है पर आशा थोड़ी नहीं है"*

सम्भव है आपकी शक्ति सीमित होगी और सम्भव है घर और बाहर आपकी आन्तरिक वेदना अभी भी पहचानी नहीं गयी है, सम्भव है ऊपरसे और नीचेसे आपकी उपेक्षा होरही है, पर दुःख चाहे जितना भी क्यों न हो आपको तपस्याकी अग्नि जलाये रखनी होगी।

मुझे और कुछ नहीं कहना है। अपना अन्तरतम नमस्कार यहाँ स्थापन करके मैं विदा होना चाहता हूँ। आपके इस महायोग-पीठको मैं नमस्कार करता हूँ। यहाँके योगसाधकोंको नमस्कार करता हूँ। जो यहाँके

पुराने स्नातक हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ; जो नये स्नातक हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ; और जो भावी स्नातक हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ। जो यहाँके ज्येष्ठ हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ; और जो कनिष्ठ हैं, उन्हें नमस्कार करता हूँ।

तृतीय-चतुर्थ पदवीदान समारम्भ
२० अक्तूबर, १९४०

# रवीन्द्र : वाणी : सूत्र : सूझ

## साहित्यिक, कलाकार, सन्त, विद्रोही, ज़मीन और नेत्र

विन्ध्या और सतपुड़ाकी हर जीवनधारा, हर जलधारा, बम्बईके सूबेके समुद्रमें मिलनेकेलिए बाध्य है। नर्मदा और ताप्तीके रूपमें दो तरल रेखाएँ, उस मध्य-भारत भागसे, इस पश्चिमतक खिंची हुई हैं, और अपने नगाधिराजोंके शिखरोंका अगम और अछूता वैभव समेटकर आपके सागर को समर्पित कररही हैं। मैं उन धाराओंके तटका वासी हूँ, जिनकी सीमाएँ हैं और निस्सीम सागरतक एक न एक दिन आनेको बाध्य हैं। यही क्यों, उन अञ्चलोंकी समस्त उपज आपके बाज़ारोंमें ला उपस्थित कीजाती हैं। यों समस्त भारतकी संस्कृतिका रुख ही पश्चिमको है, और आपकी मोहमयी नगरी मानों पूरबका वैभव उतारकर, पश्चिमको प्रदान करनेका केन्द्रस्थल है। यह, सदियोंसे भारतीय वैभव-दानका द्वार पश्चिमकेलिए खोले बैठी है। मैं बम्बई कबतक न आता—सो आगया समझिए।

इस वर्ष हमने इतना खोया, जितना पाकर हमने कुछ शताब्दियों से कभी खोया न था। हमने रवीन्द्रनाथ ठाकुर खोया। रवीन्द्र भारतीय साहित्यके प्राण-प्रतिभा और प्रार्थनाका सम्मिलित नाम है। वे इस देशके मस्तकों, यहाँकी लेखनियों और यहाँके चिन्तनमें उतरकर सहस्र-सहस्र कलाकारोंके रूपोंमें सपने देखने, बोलने और कागज़पर उतरनेवाले राष्ट्र-हृदयके गायक थे। वे मानों, इस देश, और इस देशकी ओरसे विश्वके एक नम्र किन्तु पुरुषार्थमय ध्येय-दान थे। इस ध्येयको चिन्तन, आचरण, और रक्तमें नव-जागरणके रूपमें भारत ढूँढ़रहा है। हमने भारतीय

संस्कृति और कलाकार—विश्वको दिया जानेवाला, चिरंतन उत्तर खोदिया। विचार दारिद्र्यकी देशभूमिका मानो अन्न-सत्र लुटगया। चिन्तनकी कोमलतम और प्रखरतर घड़ियोंके दिग्दर्शक अंगुलि-निर्देशपर कालने मानो बरबस पर्दा डालदिया। ऊँचेसे उठकर बोलनेवाला वह स्वर मन्द पड़ गया, जो बङ्गालीमें ध्वनित होकर, देशकी समस्त भाषाओं, और विश्वके समस्त कोनोंमें, हमारा बनकर प्रतिध्वनित होता था। हमारा विश्वको प्रतिदान रुकगया। अब रूसी, फ्रेंच, अंग्रेज़ी आदि विश्व-भाषाओंसे हम दान लेनेके अधिकारी रहगये, किन्तु विश्वका हर भारी अभाव एक नयी वस्तुको जन्म देता है। रवीन्द्रने वन्ध्या-वाणीका निर्माण नहीं किया। न आजकी भारतीय प्रतिभा, विश्व-विभुकी उस चुनौतीसे घबड़ाती है कि उसने रवीन्द्र छीनलिया। अभावमें, मानव-भाव हरे होते हैं, मानव-आविष्कार ऊगते हैं। रवीन्द्र हमारे थे, यह सिद्ध करनेकेलिए हमारा युग, रवीन्द्र-सा ऊँचा उठकर बोलेगा। हमारी कलमें यह संकेत कररही हैं।

प्रतिभा और पुरुषार्थ दोनों मानो एक दूसरेकी अमर आवश्यकताएँ हैं। आपकी संस्थामें, यह देखकर मैं गर्वित हूँ कि बहनें राष्ट्रवाणी की परीक्षाओंमें काफ़ी दिलचस्पी लेती हैं। बहिन लीलावती मुंशीका नायकत्व, प्रतिशतके पैमानेपर यों खूब सिद्ध होरहा है। स्त्री मानो सदैव घर को जगमगाता रखनेवाला नन्दादीप है। पुरुष, विश्वमें घरकी समस्याएँ सुलझाता हुआ घूमनेवाला जंगम दीप है। इन दो प्रकाशोंसे 'घरे बाहरे' उज्ज्वल ज्योति-धारा बहती और पथ उज्ज्वल करती है। मैं बहिनोंको अधिक-से-अधिक बधाई देता हूँ कि उन्होंने राष्ट्रवाणीको अपनाया। श्री क्षिति बाबूके शब्दोंमें कहें तो, यह 'दीप्त-दीप-दीक्षा' देशकेलिए मार्गदर्शक और मंगलमय हो!

जब हम नये-नये बोलना सीखे थे, ऐसा बोलना जिनमें स्वरोंमेंसे अर्थ निकालते और व्यंजनोंमेंसे वाणी, तब हम 'सूत्र' लिखते थे, जिनपर

'भाष्य' होते थे। किन्तु फिर हम हर बोला हुआ लिखनेलगे, और बोली के large scale production—बड़ी तादादमें पैदावार—होनेसे सूत्र की जगह ग्रन्थ लिखनेलगे। पहिले हमारा क्रम था : जो मनमें न समा सके उसे डरते-डरते वाणीतक लेआना, और जो वाणीपर आकर शत-शतके हृदय और मस्तकपर चढ़नेलगे उसे कलमके काले आँसुओं की ईमानदारीके साथ भोजपत्रों, शिलाओं, धातुपत्रों या कागज़ोंपर रख देना। हम अब लिखते ही हैं, बोलते प्रायः नहीं हैं। बोलना अब हम उसे कहनेलगे हैं जिसके मानी, जिसके भाव, जिसके तर्क, जिसके अभिनय, जिसकी अनुभूतिको हम कागज़पर उतरा नहीं देख सकते। इसीलिए हमारी जीभ यानी वाणी, त्याज्य, वह मन-बहलावका कौशल, वह हमारी ज़रूरत पूरी करनेकी एक इन्द्रिय मात्र रहगयी है। हमारी आजकी जीभ है हमारे कागज़। बिजलीके तार बिजली पहुँचाते हैं, नल पानी पहुँचाते हैं, और हमारी यादें, हमारी स्मृतियाँ, कागज़के बण्डलोंसे, हमारी बोलीका थोक-माल पहुँचानेका काम करती हैं। हम कहते हैं कि यह हमने संघर्ष में पड़कर किया है। शायद हमारा वश चलता तो हम संघर्षमें पड़कर, अपने देखने, सुनने, साँसलेने आदिके स्थानोंको भी बदललेते। खैर, जब जब 'थोक' तैयारी विश्वमें होती है, और ज़रूरतसे ज़्यादह माल तैयार होजाता है, तब तब महायुद्ध जैसे विश्व-विग्रह होते हैं। भौतिक मालकी तैयारीके विग्रह दस-बीस वर्षोंमें होते हों, किन्तु बोलीके मालकी तैयारीके विग्रह लगातार चलते रहते हैं। सूत्र थे, तब वे मन्त्र कहलाते थे; ग्रन्थ हुए कि उनके 'प्रचार' की ज़रूरत हुई। सूरज और चाँदको कभी भी प्रकाशका विज्ञापन नहीं देना पड़ता, पानीकी धाराओंको प्यास बुझानेकी खूबीकेलिए गुमाश्ते नहीं रखने पड़ते, वायुको खिड़कियों और झरोखोंतक से अन्दर आनेकेलिए इजाज़त नहीं लेनी पड़ती; किन्तु वाणी आज इतनी खुली, इतनी फैली हुई, इतनी सस्ती होनेपर भी, उसका पथ अवरुद्ध हो

गया है। पहिले अन्तरमें प्रकाश भर, वाणीद्वारा आये शब्द बुद्धिकी जड़ता दूर करते थे, अब हम 'जड़ता' के आवरणकेलिए वाणीका कौशलपूर्वक उपयोग करना सीखगये हैं। पहिले हम, मानव-रागोंसे उत्पन्न मलिनता को, अपने निश्चयोंपर नहीं चढ़ते देखते थे; अब निश्चयकी मलिनताको उज्ज्वलता कहनेकी प्रतिभापूर्ण कलाबाज़ीमें, हमारी सरस्वती—हमारी वाणी—का सजाव-शृंगार काम आनेलगा है। पहिले हम भूमिसे आकाश तक देखते थे, अब हम हमारे मस्तकमें रेलके डब्बे बनाये हुए हैं, और एक डब्बेसे दूसरे डब्बेको दूर मानते हैं। हम कहते हैं कि यह हमारा विस्तार है। दृष्टिकी संकुचितताको विश्वका विस्तार कहना, हमारी यथार्थ पर अयथार्थका आवरण डालनेकी खूबी ही का नाम है। पहिले हमारी वाणीमें, हमारी प्रेरणा उतरकर आती थी—तर्कसे छनकर, युगकी आवश्यकतासे प्रतिध्वनित होकर, और हृदयके समर्पणका युगों-युगोंको वेध सकनेवाला स्वर बनकर। अब हम प्रेरणाके अभावको, औरोंकी प्रेरणाएँ उधार लेकर, मिश्रण करके भी जब अपने अस्तित्वका कौशल सजानेमें बुद्धिका उपयोग नहीं करपाते, तब हम अपनी प्रेरणा-हीनता ही को, अपनी पहुँच कहने लगते हैं। जो बुद्धिजीवी हैं, वे इस प्रेरणा-हीनता को—कला के साथ घोर विश्वासघात करके भी—कला कहते हैं। जो शक्तिजीवी हैं, जिनकी शक्तिसे बुद्धिका कोई सम्बन्ध नहीं, वे उसे 'सादगी' कहते हैं। और इन दो पाटोंके बीचमें साहित्य नामक कबीर रोकर कहउठता है—

चलती चक्की देखिके दिया कबीरा रोय।
दुइ पाटनके बीचमाँ साबित बचा न कोय॥

युगों युगोंमें, विलासका रक्त-कर वसूल करनेवाला हमारी प्रेम-भावनाने, समय-समयपर सूझकी मयूरिणी वाणीके साथ ऐसाही व्यवहार किया है। सूझकी गतिको, सूझके कदम-ब-कदम चलने ही को विकास कहते हैं। और विकासके पथकी लगातार शोध ही को साहित्य कहते हैं।

शोधके, मौलिकताके, पथके पागल हम, कभी कभी आकाशकी तरह ऊँचे विचारोंको व्यक्त करते हैं—हम बुरा नहीं करते। किन्तु उस समय बोली भी आसमानकी तरह पहुँचके बाहरकी बोलने लगते हैं। नहीं, आसमान के-से विचार हों, परन्तु हम ज़मीनपर हैं, यह न भूलें। हमें जो बोलना होगा, ज़मीनकी बोलीमें बोलना होगा। वे ज़मीनपर रहते हैं, जिनमें हम जनमें हैं। हम ज़मीनपर पैदा हुए हैं, और ज़मीनके उथल-पुथलके सन्देशवाहक होकर ही हमें रहना है। अतः आसमानकी बातें भी हम ज़मीन की बोलीमें बोलें।

ऐसा न हो कि हमारा किसी विषयमें कोई मत ही न हो, और हर विषयपर, हमारे मनमें ऊग उठनेवाले विचारों या विकारों-मात्र ही को हम अपनी सूझ मान बैठें। कभी कल्पना, कभी वस्तु और कभी ज़रूरतकी रगड़ खाकर जो कुछ हमारे मनमें ऊग उठा करता है, वह सबका सब 'हमारा मत' नहीं है। हमारे मनपर आनेवाले इन अनेकों विचारोंमें, हम जिसपर अपने निश्चयकी अंगुली रखदें, वही हमारा मत होगा। प्रत्येक उस विषयपर, जिसे हम भेजेसे कलेजेपर उतारें, जिसे तर्कसे हृदयतक पहुँचावें, हमारा मत होना चाहिए। बिना मत हुए लिखना, समझमें न आनेवाली बात है।

व्यक्ति, समाज, साहित्य, राष्ट्र—इन समस्त अङ्गोंमें, मत-निश्चय, मत-प्रकाशन, मत-संघर्ष और मतानुकूल वर्तनका काम जो लोग किया करते थे, उन्हें हम कहते थे एक युगमें ऋषि, दूसरे युगमें सन्त। जिस तरह सूरज और चाँदका प्रकाश स्वदेशी और विदेशी नहीं होता, उसी तरह इस जातिके लोग स्वदेशी और विदेशी नहीं हुआ करते। हम ज्ञान नहीं देते, कोई शक्ति हमारे द्वारा ज्ञान देती है। और वह शक्ति, सूझकी परिचालिका वह ताक़त, विश्वके कोने-कोनेमें एक-सी काम कररही है।

उसी ताक़तको साहित्यिक कहते हैं। और जो विद्यार्थी आपकी

संस्थासे निर्माण होरहे हैं या देशकी संस्थाओंसे निर्माण होरहे हैं, उनमें कुछ वे हों जो विश्व-संचालक महान् साहित्यिकके अपने बीच आनेकी तैयारी करें, और कुछ वे हों जिनमेंसे किसीमें वह व्यक्ति या व्यक्तित्व पैदा होसके जिसे हम विश्वका महान् साहित्यिक कहसकें। आपके प्रासादोंमें जलनेवाली बिजलीकी टिमटिमाती दुनिया और मज़दूरोंके सड़े-गले झोपड़ोंमें मिट्टीके तेलकी टिमटिमदानियाँ प्रकाशके पथमें, कुछ अपने ही में अपना सम्पूर्ण अर्थ रखनेवाली सिद्धियाँ नहीं हैं। वे तो इस बातकी संकेतवाहिका हैं कि सूर्यके अपने सहस्र किरण लेकर आनेतक, वे अंधकारमें विश्वनेत्रोंकी सहायिका-मात्र रहें। ज्योंही भानु आया त्योंही वे जलेंगी, तो उसकी आरती बनकर; नहीं तो जिस कालके हवाले अपनेको करनेको सूरज लाचार हुआ था, उसी कालके हाथों वे भी अपनेको छोड़ देंगी। वे छोटे प्रकाश, प्रकाशके पथकी ओर जाते समयकी सीढ़ियोंपर लगे पथके चिन्ह मात्र हैं।

अमीरीका कुछ ऐसा बोझ जीवनपर आगया है कि ईमान बेंच कर बाज़ारमें खड़ी हुई क़लम, अस्तित्व बेंचनेसे इनकार करनेवाली क़लम के खिलाफ़ बग़ावत करती चली आरही है। इस विषमताने जीवनका एक ऐसा चित्र खींचदिया है कि सिर अपने तरीकेसे सोचनेलगा और धड़ अपने तरीकेसे चलनेलगा। फलित-ज्योतिषकी भाषामें सोचें तो मानव-विकासके ये राहु और केतु, कुग्रहकी तरह विग्रहशील होकर, गृह-कलहकी ज्वाला—भावों, विचारों, आदर्शों, परिस्थितियों, और जीवनोंके क्षेत्रमें जलाये हुए हैं। ऐसा महामानव चाहिए जो इस धड़ और सिरको मिला कर खंडित-मानवसे एक अखण्ड-जीवनके महा-राष्ट्रका निर्माण करसके। ज्योतिषकी भाषामें ही थोड़ा और सोचें तो हमारी धारणा देखिए कि हमारे भाग्यके और जीवन-व्यापारके संचालनमें हमपर अन्तरिक्षके सितारोंका असर पड़ता है। किन्तु हमारे ही पड़ोसमें तड़पते हुए हमारे जीवन-साथी

का असर हमपर नहीं पड़ता। जिस मोमबत्तीके प्रकाशसे अंधकारमें हमारा पथ-दर्शन होता है, उसके यही अपराध हैं कि एक तो वह पैसेमें दो मिलती है, दूसरे वह हमारी ही फूँकसे बुझजाती है, तीसरे वह हमारी जेबमें रह लेती है, और चौथे वह ज्वालामयी होकर भी इतनी ठण्डी है कि हमारी ज़रूरतके बिना कभी जल नहीं पड़ती। शायद इसीलिए हम उसके द्वारा होनेवाले पथ-संचालनके एहसानको नहीं मानते। हमारे भाग्यका निर्माण और हमारे जीवनका पथ संचालन, हम सोचते हैं कि आसमानके सितारे करते हैं। जीवनके समर्पण, सेवा, और अल्पत्वके प्रति हमारी यह क्षुद्रता, विश्वमें बड़प्पनके नामसे परिचित है। गो, जहाँ प्रखर सूर्यकी किरणोंमें बड़े बारूदखाने काम करते हैं, वहाँ एक मोमबत्ती लेकर नहीं जाने दिया जाता! क्या गरीबीका यह गौरव हम कभी अनुभव करेंगे?

सूझका यह आडम्बर नहीं शोभता कि वह अमीर होकर रहे। न उसका यही बाना होसकता है कि वह अपनेही घेरेमें मौलिक रहले। चाहे कभी जीवनसे आगे रहे, कभी पीछे; किन्तु सूझ तो जीवनकी छाया ही है। वह जीवनकी एक उन्मेषमयी माया ही है। अतः हम जीवनको देखें कि जब जब वह पथ भूलता है अथवा वह पथगामी राही होता है, तब वह न जाने कितनोंकी हदकी ज़मीनोंपर पैर रखता, अपने अभीष्ट स्थलपर पहुँचा करता है; और जब जीवन कृष्ण बनकर कारागारमें जन्म लेता है, बुद्ध बनकर राजत्वको तिलांजलि देता हुआ फ़कीरी लेता है, मुहम्मद बनकर अपनेही द्वारा निर्मित ज़मानेके लोगोंसे तिरस्कारका उपहार पा अपने स्थानसे भागनेको बाध्य होता है, ईसाके रूपमें अपने पूजनेवालोंके द्वारा शूलीपर लटकाया जाता है, तब सुविधाका लालच और धनिकताका मोह प्रतिभाके पुजारीमें क्यों हो?

पहुँचका दूसरा नाम निर्णय है। चाहे वह जगदीशचन्द्रकी हो, चाहे रवीन्द्रकी और चाहे गान्धीकी। निर्णय, साहित्यका पथ-दर्शन,

जीवनका दिशा-दर्शन और सूझका स्वरूप-दर्शन है—प्रजननशीला सूझ-सुन्दरीकी वह ससुराल है, जहाँ जल्दी या धीरे उसे पहुँचना ही होता है। निर्णयकी तरह ही भाषा भी जीवन और सूझ दोनोंकी लाचारी है। उन दोनोंको अपने 'व्यक्त' करनेका दूसरा साधन ही नहीं है। मैं भाषाको विचारका वाहन-मात्र नहीं मानता। कोई वाहनहीन विचारको पैदल लाकरके तो दिखावे। हाँ, भाषा तो विचारके प्राणका शरीर है। एक टेढ़ ज़रूर है। शब्दकोषमें लिखे शब्दके समुद्रमें कोई नहीं डूबता। और न कोषके जहाज़से कोई तैरता ही है। भाषाका हर वाक्य विचार लेकर नहीं चलता; किन्तु अर्थ लेकर तो चलता है। परन्तु विचार तो बिना भाषाके बाहर निकलता ही नहीं; स्वरूप ही धारण नहीं करता। उसे व्यक्त होनेकेलिए कुछ संकेत, कुछ चिन्ह अवश्य चाहिए। विचार-दानके इस क्षेत्रमें हमने लङ्काकाण्ड खड़ा कररक्खा है। यहाँ 'मेरी भाषा है' और 'तेरी भाषा है', बोलनेतक सीमा माननेका हिन्दीका दायरा इसलिए बढ़ा कि वह राष्ट्रकी वाणी होनेकी सरलता रखती है। किन्तु, यहाँ हिन्दुस्तानीका झगड़ा खड़ा होगया। यह झगड़ा कृत्रिम है। जब दोनों भाषाओंके क्रियापद एक हैं, तब उनको कितनी शताब्दियाँ दूर रखा जायगा? क्या विश्वमें कोई ऐसा उदाहरण है, जहाँ दो भाषाओंके क्रियापद एक हों और फिर भी वे अलग रह सके हों? हाँ, बोली तो गढ़नेवालोंकी नहीं होती, बोलनेवालोंकी होती है। और यदि विचारोंको बोलनेवालोंके पास पहुँचना है, तो उत्तरभारतमें घूमती राष्ट्रवाणीसे उर्दू शब्दोंका तिरस्कार न होसकेगा, और दक्षिण भारतमें प्रवेश करती राष्ट्रवाणीसे संस्कृत शब्दोंको देश-निकाला नहीं दिया जासकता। क्या आपके मनमें यह सन्देह है कि उत्तरकी वाणी दक्षिण और दक्षिणकी वाणी उत्तर कैसे समझेगा? मेरा निवेदन है कि भारतमें एक जाति रही है जो एक भाषाको तीर्थयात्रियोंके द्वारा दक्षिणसे उत्तर और उत्तरसे दक्षिणतक पहुँचाती रही है। वह जाति

अपने प्रभुके सम्मुख अपनेको समस्त दोषोंसे पूर्ण मानकर प्रार्थना करती हुई दोषहीनोंकी जाति रही। उन्हें सन्त कहते थे। वे चलते तो भाषा लेकर, रहते तो भाषा सँभालकर और गाते तो भाषा बनाकर। राजघरानेसे निकली मीरा हो, पारिवारिक विग्रहसे निकले तुलसी हों, या मानव-मनोभावोंके कोमलतर स्वरोंसे खेलते सूर हों, कहलाये ये सब सन्त ही। इस जातिके लोगोंको आजकल हम 'प्रचारक' कहनेलगे हैं। हमारे नामकरणमें सदा ग़लती रही है। बे-मौसम हमारे हृदयमें उठनेवाले विचारोंको, जो सूक्ष्मके नवीन आविष्कार लेकर आये, हमने कला कहदिया। बड़ी कृपा की जो हमने मातृत्वको रोज़गार नहीं कहदिया! निर्माताका अपमान करनेवाले हम, माताका भी अपमान करसकते थे। हमारी इसी भावनाने सन्तको 'प्रचारक' कहा है। स्वयं-स्वीकृत कष्ट-सहनकर, केवल भोजन-भर लेकर, काम करते लोगोंको, यदि हम प्रचारक कहते हैं तो जो काले इरादोंके उजले चित्र खींच-खींचकर दुनियाको अपनी रुचि या अरुचिकी उँगलियोंपर चलनेकेलिए बाध्य करते हैं, उन्हें हम कौन-सा नाम देंगे?

जबतक सन्त थे, वे लोकवाणी बोलते थे, लोकवाणी लिखते थे, लोकवाणी गाते थे, और लोक-हृदयमें वाणीको पहुँचाते थे। जब ऋषित्व और सन्तत्व गया तब हम शहराती ज़बान लिखने लगे—वह जिसपर थोड़ेसे सिर डुललें, वह जिसमें गिने-चुने शिक्षितोंके मनोभाव प्रतिबिंबित होसकें। कल्पनामें रसीला साहित्य देखनेकी हमारी दौड़, प्रगट करती है कि मानों हम आत्मनाशका खेल खेलते हैं। निर्माताका मातासे प्रजनन-क्षेत्रमें यदि कोई रिश्ता हो, तो एककी बेटी होकर, दूसरेकी पत्नी बनकर और तीसरेकी माता होकर; तीनोंपर अपने ढङ्गसे समान प्यार कर सकनेवाली मानवताकी जननीको हम केवल चढ़ती उम्रकी विलासिनी बनानेका खेल क्यों खेलरहे हैं? रसीले साहित्यकी हमारी रुचिपर प्रशंसक समूहकी मनोभावनाकी मक्खियाँ जब भिनकने लगती हैं तब उस भिनककी मदु म-

शुमारीपर हम अपने प्रशंसकोंकी तादाद कूतते हैं। यह हमारा कैसा मोह है ? जब हम रसीलेपनमें होते हैं तब क्या हम यह व्यक्त नहीं करते कि क़लमकी दूकानपर हमने जो माल सजाया है, उसकी अपेक्षा हमारे हृदय और मस्तकका कारखाना, जहाँ माल बनता है, कितना दुर्गन्धित होगा ? फिर यह राष्ट्र-निर्माण, तत्व-चिन्तन, मत-निश्चय, साहित्य-साधना और समर्पण, यह सबकुछ क्या है ? केवल ख़याल ! और इनको छोड़-देनेके बाद बाक़ी क्या बचेगा ?

हम एक खतरा और न भूलें। एक देहातीको देखिए। हम कहते हैं कि वह बड़ा अन्धविश्वासी है, अपनी धारणाओंका क़ायल। फिर एक शहराती देखिए। सभ्यताके नामपर उसकी भी कुछ कठोर धारणाएँ हैं, जिन्हें वह छोड़ नहीं सकता। और यह कहना सर्वथा कठिन है कि इन दो अनुदारोंमें कौनसा अनुदार अपनी धारणाओंसे चिपके रहनेमें अधिक अभारतीय और अधिक हानिकर है। इसके बीच यदि हमने रसीले साहित्यिक-ज़हरकी खैरात बाँटी तो रसोंकी जानकारीसे अपरिचित ग्रामीण उस ज़हरसे भले बचलें, किन्तु शहराती मध्यवित्तकी बचत तो उससे हरगिज़ नहीं। जब रसीली धारणाओंसे चिपकनेवाली एक पीढ़ी हम निर्माण कर चुकेंगे, तब जिस तरह समुद्रका ज्वार समुद्र ही के बेक़ाबू होजाता है, उसी तरह वह पीढ़ी रसीले कलाकारोंके भी बेक़ाबू होजायगी, और एक बाग़ी सेनाकी तरह, जब कलाकार जीवनकी ओर लौटना चाहेगा तब रसीलेपनकी रिश्वतपर जीनेवाली वह पीढ़ी कलाकारके साथ लौटनेसे इनकार करदेगी। क्या हम यह खतरेका व्यापार बन्द करेंगे ?

कलाकार ईमान और कुरुचियाँ बेंचकर विश्वका निर्माण नहीं करता। वह तो रोटियाँ बेंचकर तेल खरीदता है, और प्रणयके रात्रि-जागरण को साधनाका मन्त्र-जागरण बनाकर, जीवनको गति देनेवाले अपने सपने लिखा करता है। भिखारीको रोटी न मिलनेसे समाजके द्वारा

अपमानका अनुभव होता है, कलाकारको अपने सूझ न उठनेके दुर्दिनमें उससे कम वेदना और अपमानका अनुभव नहीं होता।

विश्वकी रचनामें आपने एक बात देखी होगी। भूमिका नाम है विश्वम्भरा। भूमिसे जो उपजता है या भूमिकी उपजपर जो प्राणी जीते हैं, उन्हें खाकर ही विश्वका पोषण होता है। किन्तु 'सभ्यता' नामक दानवके विकासने ज़मीनपर महल, डामरकी और पत्थरकी सहस्र-सहस्र मीलकी सड़कें, रेलकी लाइनें, खेलके मैदान और मौज मारनेके भवन बनादिये हैं। आप देखें कि इन चीज़ोंने भूमिकी 'उपजाऊ' सतहको उपजहीन बनादिया है। यदि सभ्यताकी आवश्यकताएँ इसी तरह भूमिको निकम्मी बनाती जाँय तो भूमि केवल हमारी आत्मघाती सभ्यताकी सनकमें अनुपजाऊ होजायगी। ठीक इसी तरह सूझके क्षेत्रोंको धन, महत्वाकांक्षा, स्वार्थ और मूर्खताने प्रतिभा-हीनतासे भरदिया है। विश्वके प्रारम्भसे स्पष्ट बोलने और स्थापित व्यवस्थामें परिवर्तनकी बात कहने पर मानव-प्रतिभा दण्ड पातीरही है। माना कि प्रतिभाके दण्डके दिन, जातियोंके त्योहार बने। किन्तु इससे प्रतिभाका ऊसर होना, प्रतिभाकी ज़मीनका पथरीला बनायाजाना कहाँ रुका? सूझकी उपेक्षा करके, सूझको दण्डित करके हमने आडम्बर, आकांक्षा और प्रसिद्धिके जो प्रासाद खड़े कररखे हैं, उन अर्थहीन व्यक्तियों, संस्थाओं और साधनोंने प्रतिभाको अनुपजाऊ बनादिया है। क्या सूझके खेतोंमें बोयेहुए आलू प्रतिभाशीलोंको जीने देंगे? अतः आप यत्न करें और रेलके पथिकों और महत्वाकांक्षाके राहगीरोंसे आप कहें कि प्रतिभाके संचारकेलिए सुरक्षित ज़मीनपर 'अपने स्वार्थ', आदर्शहीन बहुमत और स्वाधीनता-विरोधी षड्यन्त्रके झंडे न गाड़ें। पशुताकी ओर मानवको लेजानेवाले सभ्यताके इस उपहारसे यदि मानव बचाया जासके तो अमित उपकार हो।

हम यह भी न भूलें कि निश्चयकी प्रखरता कलाकारका बीभत्स स्वरूप

नहीं है। शस्त्रक्रिया करनेवाला उपचारक, अङ्ग-अङ्गके काट डालनेके अपने निश्चयको, प्राणदानकी ममताकी कोमलताके तकाज़ेपर ही काममें लाता है। उस समय उसके शस्त्र बड़े बारीक और उसका हाथ बड़ा नाज़ुक, बड़ा कोमल, होता है। मानवरूपी बनमानुसमें कलाके अवतारणाके ये ही क्षण होते हैं। इन्हीं क्षणोंमें उसे सिद्ध करना होता है कि वह कलाकार है। उसकी आँखोंमें परिणाम है, निश्चयमें भविष्य और अंगुलियोंमें अमरत्व खेलरहा है। उपचारकके छुरेसे रक्तकी लाल बूँदें टपककर शक्ति क्षीण भले करें, किन्तु कलाकारकी क़लमसे झरनेवाली हृदयके ख़ूनकी संकेतवाहिका काली बूँदें मानवके भाग्य और प्रयत्नोंको लाली प्रदान करती हैं। यह काम मध्यवित्त लोगों द्वारा विकारोंकी ख़ैरात बाँटनेसे न होगा। केवल जवानीके भिनकते बे-इख्तियार क्षणोंको लिखना ही उचित न होगा। हमें लोकजीवन लिखना होगा। हम शहराती साहित्य क्यों लिखते हैं? क्या हम हार मानचुके हैं कि लोकजीवन नहीं लिख सकते? हम यह गर्व न करें कि हमारी रचनाओंने हमें सुखसे जीवन बिताना सुलभ करदिया। सुविधाकी यह प्राप्ति लक्ष्मीका आगमन नहीं। शराब और अफ़ीम बेचनेवालोंने भी तो अपनी सम्पत्तिसे महल खड़े कररखे हैं। विवाहों, त्योहारों और चक्कियों आदि अवसरोंपर गाये जानेवाले गीत ही आज तो हमारा 'लोकसाहित्य' है और हम उससे काफ़ी दूर हैं। हाँ,

तुलसीदास आस रघुवीरकी
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलनेको
मीरा के प्रभु गिरधर नागर
और
कहत कबीर सुनो भाइ साधो

के रूपमें एक साहित्य लोकजीवनतक पहुँचा था। शताब्दियाँ हुईं कि अब हम उससे अधिक कुछ नहीं पहुँचापाते और जब हम देखते हैं कि

गुलाबकी डालपर परसोंकी बोंडी कल कली होगयी है, कलकी कली आज खिलगयी है, और आज फूल बनकर अपने उन्मेषकी कीचड़को चूसती, मिट्टी और ढेलोंमें मस्तक उठाती तथा काँटोंकी टहनीपर गुरुत्वाकर्षणसे विद्रोह करती हुई, ताक़तसे सिर उठाकर, फूलकर आज लम्बी यात्रा समाप्तकर पंखुड़-पंखुड़ी होकर धूलमें मिलजानेको बाध्य है, तबभी हम यह अनुभव क्यों नहीं करते कि लोकजीवनके पास साहित्य पहुँचानेमें शताब्दियाँ तो दूर, अब विलम्बमें दिन भी नहीं गुज़रने दिये जा सकते। प्राचीन साहित्य, हृदयका सन्तोष बनकर भले रहले, वह लोकजीवनकी ग्राम-समस्याओंको नहीं सुलझा सकता।

क्या हम निर्मित ज़मानेके बाग़ी हैं? क्या हमने सचमुच रूढ़िके बन्धन तोड़े हैं? किस रूढ़िके? बाग़ी वह जिससे समय आगे न बढ़पाय। चिढ़कर समय रुकनेकेलिए कहे और फिर लाचार अनुगामी बना जिसके पीछे चलाआय। प्रतिकूलताका नाम बग़ावत नहीं है। प्राणोंपर खेलकर लोकजीवनकी धाराको उन्नतसे उन्नततर जगत्की ओर घुमादेना सच्ची बग़ावत है। निर्माणके हर कीलकाँटेको उखाड़ फेंकना बग़ावत नहीं है। जिस निर्माणपर मानव - पतन, मानव - दैन्य, मानव - आडम्बर, मानवकी कमज़ोरी और मानवके निरंकुश अत्याचारोंका प्रासाद खड़ा है, उसकी ईंटसे ईंट बजानेकी प्रेरणा देनेवाली हुंकार करना सच्चा विद्रोह है।

विद्रोही और विद्रोही लेखक, इन दोनोंमें बहुत बड़ा अन्तर है, यह हम न भूलें। विद्रोही कार्यकर्ता अपने संगठनके गिने-चुने पहरेदार रखकर परदेके ओट छुपा रहसकता है। वह अपनी गतिविधिके डोरोंको, कविके मनकी हिलोरोंकी तरह प्रलयंकर होतेहुए भी दृष्टि-ओझल रखसकता है। वह अपना मिशन पूरा करनेमें जन-समूहको आगे बढ़ाते समय, काम देखकर मज़दूरी बाँटनेवाले संगठनकर्त्ताकी तरह, किश्तबंदीसे, अपने प्रचारको छुपाकर चला ले जा सकता है। किन्तु एक क्रान्तिशील लेखकके भाग्यमें

इससे भी कठोर कठिनाइयाँ होती हैं। वह प्रसिद्धि और पहचानके समस्त खतरोंका बोझ ढोनेकेलिए बाध्य है। समाजमें उथल-पुथल करनेपर उसे उपहास सहना ही होगा। उत्कर्षसे डाह करनेवाले व्यक्तियों-द्वारा प्रतारणा भोगनी ही होगी। निर्भीक मत व्यक्त करनेपर शासन द्वारा दण्डनीय होकर लोकजीवनमें प्रवेश करनेकी प्राण-प्रतिष्ठा पानी ही होगी। क़लम और ईमान बेंचनेसे इनकार करनेपर साधनवालों-द्वारा उसे भूखा मार डालने के खुले षड्यन्त्रका सामना करना ही होगा। और महज़ बहकादेनेसे ग़लत समझनेवाले, अपनेही लोकजीवनके लोगोंकी बेसमझीका बेरहमीसे शिकार होना ही होगा। प्रसिद्धि और पहचानके खतरोंसे पीछे हटना ऐसे कलाकारका पतन है। उसे राष्ट्रीय होकर भी राजनैतिक प्रचारकों-द्वारा दलोंके पट्टे गलेमें न पहनने या पहने हुए पट्टे गलेसे उतारनेपर, मिलने-वाले भयंकर आक्रमणों और अपार लांछनोंके बीच रवीन्द्रकी वाणीमें यह सोचनेकेलिए लाचार होना ही होगा कि—

अकेला चल अकेला चल अकेला चल

इन खतरोंके कारण ही क्या आजका लेखक, लोकजीवन और उसकी समस्याओंसे आँख मूँदनेकेलिए बाध्य होगया है? क्या इसीलिए वह अपनी पहुँचको देवता मानकर, युगोंसे उसके आसपास चक्कर काट रहा है? और उसे वह अपनी गति कहरहा है? अपनी पहुँचको मीलका पत्थर मानकर, पीछे छोड़ता हुआ, लोकजीवनमें प्रवेश करनेकी नयी मंज़िल नहीं गाँठरहा? गतिका यह ग़ुलाम क्या प्रगतिका परम ईश्वर नहीं होसकता? इसका प्रियतम कौन? खतरा, सूली, संकट कि इनसे भी मीठी कोई वस्तुएँ? यह सोचते-सोचते थकनेवाला जन्तु जीते-जीते थकावट क्यों नहीं अनुभव करता?

विश्वमें महायुद्ध होरहा है। भूतकालका वैभव वह धूल खारहा है। और सीमाएँ किसी साड़ीके उलझे हुए सूतकी तरह, अपना अर्थ खोए हुए रोरही हैं। वर्तमानमें यह बारूद लगी हुई है, और वह देखो विश्वका

चिन्तक यह सोचनेकेलिए बाध्य है कि कलका ज़माना कैसा बनेगा। देशोंकी सीमाएँ कहाँ होंगी? भारतीय महामानव, क्या तुझसे भी कोई पूछेगा? क्या तेरी भी कोई साख, कोई वक़त, कोई जगह है? जो रीझकर किसीका दारिद्रय हरण नहीं करसका, वह खीझकर दिमाग़ी महाप्रलय किसके बलपर करेगा? रूसी भाषाको हिन्दी या भारतीय भाषाने क्या दिया है जो रूसकी सीमा निश्चित करते समय उससे पूछा जायगा? जो हिंसा के बीचोंबीच हिंसकोंकी मरज़ीपर अकर्मण्यताको आराधना और तत्व-चिंतन कहतारहा और हिंसकोंकी हिंसाको अपनी कलात्मक कायरतासे बलवान सिद्ध कियेरहा, वह विश्वके भाग्य-निर्माणपर अपने निर्णय देगा?

आपकी संस्थाको इस उपाधिदानके समय देनेकेलिए मेरे पास क्या है? हिन्दी-भाषियोंसे यदि मैं कहूँ या समस्त भारतीय साहित्यिक तरुणाईसे मैं कहूँ तो, प्रेमचन्द और जयशंकरप्रसादकी मौत मैं आपको सौंपता हूँ। मैंने सुना कि वे अपना इलाज नहीं करासके। यह भी जाननेकी बात है कि वे जीते-जी मंगलाप्रसाद पारितोषिक नहीं पासके। न हिन्दी-साहित्य सम्मेलनके सभापतित्वका गौरव उन्हें दियागया। क्योंकि निर्णयका बहुमत पन्त, निराला, नवीन, महादेवी, प्रसाद और प्रेमचन्दको किसीके योग्यही नहीं समझसका। और हिन्दी सीखनेवाले देशवासियोंसे कहूँ तो, यह कि वे देशमें ज्ञान और कलाको, जब वह संकटमें दीखे, मरनेसे बचावें, और राष्ट्रकी वाणीका बन्धनयुक्त पथ बन्धन-मुक्त करनेमें सहायक हों।

दूसरी चीज़ जो मैं आपको दूँ, वह यह ज़मीन, जिसकी एक तहको यदि आप उखाड़दें तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, दूसरी तह उखाड़दें तो राणा प्रताप, भूषण, शिवाजी, छत्रसाल, तुलसी, सूर, कबीर और मीरा आदि इस ज़मीनमेंसे उठकर आपसे बोलने लगेंगे। यह ज़मीन आज मेरी और आपकी नहीं। अतः इसके आँसू, इसके बन्धन, इसकी ज़बानपर लगा ताला, इसके जीवनपर लगा पहरा, और इसके अन्नदा और प्राणदा होते

हुए भी इसकी ये भूख, स्मृतियाँ भी आज मैं आपको दीक्षादानमें देता हूँ कि कभी आपका साहित्य इन्हें मिटाने योग्य भी होसके।

तीसरी चीज़ आपके नेत्र हैं। ज़मीनसे आसमानतक नज़रकी पहुँच है। परन्तु पराधीन देशमें आप जोकुछ देखें उसपर सोच नहीं सकते। आप वह सोचेंगे जो आपका पालक चाहता है। आपके इन बन्धनोंमें आपके रोज़गार हैं, आपके व्यापार हैं, आपकी ज़िम्मेवारियाँ हैं; और एक खतरा लेनेपर आप अनेक संकटोंमें पड़सकते हैं; क्योंकि व्यवस्थाकी रुचि से इधर-उधर, आपकी प्रतिभाके पदनिक्षेपकी नूपुर-ध्वनिसे, आपको आरामसे रहने देनेवाले सुरक्षणके नाराज़ होजानेका, प्रतिभाके पंखोंकी आज़ाद फड़फड़ाहटसे, प्रतिभाके जाग उठनेका अन्देशा है। अतः इस भाग्यहीन सुरक्षाके साथ-साथ, भाग्यवान प्रतिभाके पंखोंकी फड़फड़ाहट मैं दीक्षामें आपको देना चाहता हूँ।

मैं चाहता हूँ, आप प्रचारकको सन्तसे बदललें। भीड़में खड़े हो जाने-भरको आप यह न समझें कि आप लोकजीवनमें प्रविष्ट होगये। लोक-जीवनकी साँसों और उल्लासों, उन्मादों और अँगड़ाइयों, बेचैनियों और घबराहटोंके रहस्योंके उद्घाटनका यह खज़ाना यदि आप सँभालसकें तो मैं आपको आदरसे देता हूँ।

और एक चीज़ वन्दनपूर्वक देना चाहूँगा।

वह एक 'वाणी' है, जो लोकजीवनके हृदयको सोच-सोचकर चिल्ला रही है और चिल्ला-चिल्लाकर सोचरही है। एक भुजा है, जो उनकी ओर से उठरही है जिनकी भुजाएँ उठ नहीं पातीं, और उनका भाग्य लिख रही है जिन्हें शासनने लिखना-पढ़ना नहीं सीखने दिया।

एक वाणी है, जो झोपड़ियोंकी कराहको राजमहलोंमें ले जाकर टकराती है और राजमहलोंके अपमानोंको झोपड़ियोंके सेवापथमें मिले प्रभुके प्रसादकी तरह ग्रहण करती है।

एक वाणी है, जो गलियोंमें, कूचोंमें, झोपड़ियोंमें, महलोंमें, पहाड़ोंमें, गुफाओंमें, भीड़ोंमें, एकान्तोंमें, विजयोंमें, विजय-पथकी पराजयोंमें, 'चले चलो' का स्वर लिये बराबर सुनाई पड़ती चली आरही है।

एक वाणी है, कि समस्त धर्मोंके देव-मन्दिरोंमें जिसका रथ गतिशील, जिसका पथ उन्मुक्त है—किन्तु काँपते सिंहासनोंका आडम्बर है कि उस वाणीको वे न सुनें।

एक वाणी है, जो कि जहाँतक भारतका नरमुण्ड है वहाँतक संदेशवाहिनी बनकर, वह प्रचण्ड है और जहाँतक विश्व हृदय है वहाँ तक विश्वविभुकी प्रार्थनाके गौरवसे गीली और बोझीली है।

एक वाणी है, जो संकटोंको प्रार्थनाकी कड़ियाँ बनाकर बोलती है और विनाशकी धमकियोंमें विभुकी सुनहली आशाके दर्शन करती है। कलेजा है कि जो लोकजीवनका दलित कलेजा बना उठनेकी चाह बनकर खड़ा है। मुँह है कि मुक्त हास्यमें विश्व-परिवर्तनके बोल महाप्रलयकी वाणी बनकर आरहे हैं। भुजाएँ हैं कि कष्टभोगीके गलेके हार हैं, अथवा शक्तिके निर्देशकी ललकार हैं, अथवा दबेहुएकेलिए दण्डित होनेका दूना स्वीकार हैं। वह लोकजीवनकेलिए प्रताड़ना सहता है। लोकजीवनकी भी प्रताड़ना सहता है, और उसका जीवन पतितोन्मुख लोकजीवनकी रुकावटकेलिए स्वयं प्रताड़ना बनजाता है; क्योंकि वह लोकजीवनको प्यार करता है। लोकजीवनकी बंशी बनकर, उसकी भैरवी बनकर, उनकी साँस बनकर, उनकी उसाँस बनकर और उनका मस्तक बनकर स्थिर रहता है। संकटगृहमें, कारागारमें और बधगृहमें वह मुक्तिकी एकही वाणी बोलता है। रूढ़िके गुमराहोंको वह प्रभु-पथका पता देता है। देशघातकों और विश्वासघातकोंमें वह उनमें निवास करनेवाले प्रभुको ढूँढ़कर जगाता है। निन्दकोंकी सहिष्णुता उठाता है। क्रूरोंकी कोमलता जगाता है, और पथ-भ्रष्टोंको वह अपने कलेजेपरसे पथ-दान करता है।

लोकजीवनके भाग्यका भविष्य वह लिखता है। किन्तु विश्वकी गुत्थियाँ सुलझाकर तत्वज्ञ नहीं बनना चाहता।

वह कवि है—लोकजीवनके आँसुओंसे गीला, लोकजीवनकी चाहोंसे दरदीला, और इस इच्छासे दूर कि वह कवि हो, और इस बातको बिना जाने कि वह कवि है।

वह न सम्राट है, न सरदार। न धर्माचार्य है, न व्यवस्था देनेवाला। वह एक वाणी है, जिसके आगे विश्व लाचार है कि उसे सुने। उसमें कराह है, जिसमें कोटिकोटि दुखियोंकी आत्मा सिसकरही है। उसमें गर्जन है, जो श्रोताओंकी अकर्मण्यताको लज्जित कररहा है। उसमें विश्वास है, जो बलिपन्थियों और कमज़ोरी स्वीकार करनेवालोंका अपनी हृदयकी धक-धकके बीच रक्षण कररहा है।

वह वाणी है, जो राजाज्ञा नहीं है; किन्तु कोटि - कोटि आदमी, कोटि-कोटि मानव, जिससे बँधेहुए हैं; अनंत सेना नहीं है, किन्तु उसके एक विश्वासपर कोटि-कोटि व्यक्ति ठहरेहुए हैं।

वह वाणी है, जो दण्ड देनेमें अपनेको भी क्षमा नहीं करती; जो बुराइयोंको अपने सिरपर लेती है और अच्छाइयोंको प्रभुके चरणोंपर चढ़ाती जाती है।

वह वाणी हर देशमें है, हर जातिमें है, हर धर्ममें है। ईसाका अनुवाद करके उस वाणीका नाम अमरीकामें रूज़वेल्ट, इंग्लैंडमें चर्चिल, रूसमें लेनिन, जर्मनीमें हिटलर, इटलीमें मुसोलिनी, टर्कीमें मुस्तफ़ा कमाल, चीनमें चेंगकाई शेक, और विश्वमें न जाने कहाँ-कहाँ क्या-क्या कहीगयीं। किन्तु गुरुदेव रवीन्द्रकी बोलीमें भारतकी वह कविता, वह सूझ, वह साहित्य, वह पुरुषार्थ कहाँ है? उस वाणीके स्वप्नोंका जागरण सेवाग्रामकी झोपड़ीमें निवास करता है। उधर लियाहुआ यह वन्दन भी मैं आपको सौंपता हूँ।

और मैं मानता हूँ, युग यहीं नहीं खड़ा रहेगा। समयका स्वभाव ही खड़ा रहना नहीं है। हमारा साधु - वर्तमान जब पूजाका भूतकाल बनेगा, तब मैं उस युगको देखना चाहूँगा जहाँ एक या अनेक मूर्तियाँ, प्रलय मचातीं, और फिर विश्वका निर्माण करती दीखपड़ें। सेवाग्राम, उसी युग का न्यौता क्यों न कहा जाय ?

आपने मुझे यह अवसर दिया, मैं आपको पुनः धन्यवाद देता हूँ।

पाँचवाँ - छठा पदवीदान समारम्भ
रविवार, १६ नवम्बर १६४१

# भाषा : साहित्य : देश

बहनो और भाइयो,

आपको सम्बोधन करके बोलनेका जो अवसर मुझे मिला है उसके लिए मैं अपनेको परम सौभाग्यवान् समझता हूँ। आपने आज जो प्रमाण-पत्र पाये हैं वे नाना विश्वविद्यालयोंसे पाये जानेवाले प्रमाणपत्रोंसे भिन्न कोटिके हैं। इन प्रमाणपत्रोंको पानेके उत्साहके पीछे आपका मानसिक औदार्य और दृढ़ निश्चय छिपा है। आप समूचे भारतवर्षमें एक ज़बर्दस्त एकता लानेकेलिए कृत-संकल्प हैं। इस एकताके मार्गमें एक बड़ी भारी बाधा भाषाओंकी विविधता बताई जाती है। आप उस बाधाको दूर करनेकेलिए दृढ़ निश्चय लेकर आये हैं। बम्बई हिन्दी-विद्यापीठकी परीक्षाओं-केलिए अपने आपको तैयार करना उसी दृढ़ निश्चयका रूप है। आप जानते हैं कि वर्तमान काल कितना संकटमय है। सारी पृथ्वी मानो ब्रह्मांड-कटाह के अदृश्य तप्त रसमें खौलरही है। प्रतिक्षण दुनियाका बाहरी और भीतरी नक़शा बदलरहा है। कलतक जो ध्रुव सत्य था, आज वह अस्थिर और डाँवाडोल साबित होरहा है। हज़ारों वर्षके इस पुरातन देशकी एकताको खण्डित और छिन्न-भिन्न करनेके अनेक प्रयत्न होरहे हैं। जबकि सब-कुछ डाँवाडोल है, जबकि सबकुछ हिलचुका है, जबकि भविष्यकालीन कलको सबकुछ सम्भव दीखरहा है, तब आप दृढ़-संकल्प और विशाल मनोबलको लेकर इस महान् देशकी एकता अक्षुण्ण बनाये रखनेकेलिए अग्रसर हुए हैं। यही कारण है कि मैं आपके बीच उपस्थित हो सकनेको अपना परम सौभाग्य मानता हूँ। आप भारतवर्षके उज्ज्वल और महान्

भविष्यका निर्माण कररहे हैं। मुझे कोई सन्देह नहीं है कि आपका प्रयत्न सफल होगा। भावी भारतवर्ष आपकी तपस्यासे स्वस्थ और बलशाली होगा। विपत्तिकी रात्रि बीत जायगी और समृद्धिका सुप्रभात होगा। मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ।

नाना कारणोंसे इस देशमें और बाहर यह बारबार विज्ञापित किया जाता है कि इस महादेशमें सैकड़ों भाषाएँ प्रचलित हैं और इसीलिए इसमें अखण्डता या एकताकी कल्पना नहीं की जासकती। मैंने विदेशी भाषाओंके जानकारों और विदेशके नाना देशोंमें भ्रमण करचुकनेवाले कई विद्वानोंसे सुना है कि तथाकथित एक-राष्ट्र व स्वाधीन देशोंमें भी दर्जनों भाषाएँ हैं और भारतवर्षकी भाषा समस्या उनकी तुलनामें नगण्य है। परन्तु अन्य देशोंमें यह अवस्था हो या नहीं, इससे हमारी समस्याका समाधान नहीं हो जाता। दूसरोंकी आँखमें खराबी सिद्ध करदेनेसे हमारी आँखमें दृष्टि-शक्ति नहीं आजायगी। फिरभी मैं आपको स्मरण कराना चाहता हूँ कि हमारे इस देशने हज़ारों वर्ष पहलेसे भाषाकी समस्या हल करली थी। हिमालयसे सेतुबन्धतक सारे भारतवर्षके धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ सौ वर्ष पहलेतक एकही रही है। यह भाषा संस्कृत थी। भारतवर्षका जोकुछ श्रेष्ठ है, जोकुछ उत्तम है, जोकुछ रक्षणीय है वह इस भाषाके भाण्डारमें सञ्चित कियागया है। जितनी दूरतक इतिहास हमें ठेलकर पीछे लेजासकता है उतनी दूरतक इस भाषाके सिवा हमारा और कोई सहारा नहीं है। इस भाषामें साहित्यकी रचना कम-से-कम छह हजार वर्षोंसे निरन्तर होती आरही है। इसके लक्षाधिक ग्रन्थोंके पठन-पाठन और चिन्तनमें भारतवर्षके हज़ारों पुश्ततकके करोड़ों सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात लगेरहे हैं और आज भी लगे हुए हैं। मैं नहीं जानता कि संसारके किसी देशमें इतने कालतक, इतनी दूरीतक व्याप्त, इतने उत्तम मस्तिष्कों में विचरण करनेवाली कोई भाषा है या नहीं। शायद नहीं है।

फिरभी भाषाकी समस्या इस देशमें कभी उठी ही नहीं हो सो बात नहीं है। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीरने संस्कृतके एकाधिपत्यको अस्वीकार किया था, उन्होंने लोकभाषाको आश्रय करके अपने उपदेश प्रचार किये थे। ऐसा जान पड़ता है कि संस्कृत भाषाको इस युगमें पहली बार एक प्रतिद्वन्द्विनी भाषाका सामना करना पड़ा था। जहाँतक बौद्ध धर्मका सम्बन्ध है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जासकता कि उस युगकी लोकभाषा कही जानेवाली पाली सचमुचही बुद्धदेवके मुखसे उच्चरित भाषा थी या नहीं। प्रियदर्शी महाराज अशोकने दृढ़ताके साथ लोकभाषाको प्रचारित करना चाहा था। इसका सबूत हमारे पास है और सीलोन तथा बर्मा आदिमें प्राप्त पाली भाषाका बौद्ध साहित्य भी हमें बताता है कि बुद्धदेवने सिर्फ़ इस लोक भाषामें उपदेश ही नहीं दिया था बल्कि निश्चित रूपसे अपनी वाणीको संस्कृतमें रूपांतर करनेका निषेध भी किया था। यह साहित्य स्थविरवादियोंका है जो कई बौद्ध सम्प्रदायोंमेंसे एक है। आधुनिक कालमें बौद्ध साहित्यकी जब पहले-पहल इस देशमें चर्चा शुरू हुई थी तब इन पाली ग्रन्थोंको एकमात्र प्रमाण मान लियागया था, और उस समय जो कुछ कहागया था वह अब भी संस्कार रूपसे बहुतसे सुसंस्कृत जनोंके मनपर रहगया है। परन्तु सही बात यह है कि स्थविरवादियोंका यह साहित्य विशाल बौद्ध साहित्यका एक अत्यन्त अल्प अंशमात्र है। न तो वह एकमात्र बौद्ध साहित्य ही है, न सर्वाधिक प्रामाणिक साहित्य ही है, और न यही ज़ोर देकर कहा जासकता है कि यही सबसे अधिक पुराना साहित्य है। इस शास्त्रका संकलन कई बड़ी बड़ी संगीतियोंमें हुआ है। आपको मालूम ही होगा कि बुद्धदेवके निर्वाणके बाद उनके वचनोंको ठीक-ठीक संग्रह करनेकेलिए बौद्ध आचार्यों की कई बड़ी-बड़ी सभाएँ हुई थीं। इन्हें संगीति कहाजाता है। अशोक संगीतिके अवसरपर १८ बौद्ध सम्प्रदायोंकी चर्चा मिलती है। इन सबके अलग अलग पिटक थे और इनमें सिर्फ़ पाठका ही भेद नहीं था; विषय, वस्तु

और भाषाका भी भेद था। बहुत पुराने कालमें हीनयान और महायान दोनों ही प्रधान बौद्ध शाखाओंके ग्रन्थ संस्कृत और अर्द्ध-संस्कृतमें लिखे जाने-लगे थे। आज इनमेंका अधिकांश खोगया है। फिरभी आज नेपालसे तो कल तुर्किस्तान और मध्य रशियासे नये-नये ग्रन्थ मिलते रहते हैं और बौद्ध साहित्य की भाषाके सम्बन्धमें कियेगये पूर्ववर्ती अनुमानोंको धक्का मारजाते हैं।

सातवीं शताब्दीमें इन बौद्ध ग्रन्थोंका एक विशाल साहित्य था। चीनी यात्री, उन दिनों हुएन्त्साङ्ग, जब इस देशमें आये थे तब वे स्थविर-वादी, महासांघिक, महीशास्त्रक, काश्यपीय, धर्मगुप्त, सर्वास्तिवादी आदि सम्प्रदायोंके ५६३ ग्रन्थ अपने साथ लेगये थे। ये अधिकांश संस्कृतमें थे। इस प्रकार यद्यपि एक सम्प्रदायकी गवाहीपर हम पालीको संस्कृतकी प्रति-द्वन्दिनी भाषाके रूपमें पाते हैं, तथापि बहुत शीघ्रही संस्कृतने उस प्रति-क्रियापर विजय पाली थी।

भगवान् महावीरके द्वारा पुनरुज्जीवित जैनधर्मके विषयमें भी यह एकही बात कही जासकती है। सन् ईसवीके बादके सिद्धान्तोत्तर साहित्य में धीरे-धीरे संस्कृतका प्रवेश होनेलगा और जैन आचार्योंने नाना काव्य और नाटकोंसे भाषाको समृद्ध ही नहीं बनाया, उसमें नवीन प्राण भी संचा-रित किये। मैंने जैन-प्रबन्धोंकी प्राकृतगन्धी संस्कृत देखी है और मैं साहस-पूर्वक कह सकता हूँ कि संस्कृतको इतना सरल और प्राञ्जल बनाना एक-दम नवीन और स्फूर्तिदायक प्रयास था। जैन मुनियोंने इसमें प्राञ्जलता लेआनेमें कमालका काम किया है। जैन धर्मकी श्रेष्ठ चिन्ता तो उनके दर्शन-शास्त्र हैं, जो अधिकांशमें संस्कृत ही हैं। इस साहित्याङ्गने संस्कृत के दर्शन-साहित्यको नये सिरेसे उत्तेजना दी है। जिन दिनों भारतवर्षकी सांस्कृतिक अवस्था अत्यन्त उतारपर थी उन दिनों भी जैन - दर्शन और न्यायदर्शनकी बहसोंने भारतीय मस्तिष्कमें थोड़ी - बहुत गर्मी बनाए रखने का आश्चर्यजनक कार्य किया था।

मेरे कहनेका तात्पर्य इतनाही है कि यद्यपि कभी इस भाषामें और कभी उस भाषामें धर्मोपदेश और काव्य आदिकी रचनाके प्रमाण पाये जाते हैं; परन्तु सब मिलाकर पिछले कई सहस्राब्दकोंतक भारतवर्षके सर्वोत्तमको—उसके ज्ञान और विज्ञानको, उसके दर्शन और अध्यात्मको, उसके ज्योतिष और चिकित्साको, उसकी राजनीति और व्यवहारको, उसके कोष और व्याकरणको और उसकी समस्त चिन्ताको—इस भाषाका ही सहारा मिला है।

विदेशियोंके झुण्ड बराबर इस देशमें आतेरहे हैं, और आकर इन्होंने बड़ी जल्दी सीखलिया है कि संस्कृत ही इस देशमें उनके कामकी भाषा होसकती है। यह आश्चर्यकी बात कहीजाती है कि संस्कृत भाषाका सबसे पुराना शिलालेख जो अबतक पायागया है वह गिरनारवाला शक महाक्षत्र रुद्रदामाका शिलालेख है जो सन् ईसवीके लगभग डेढ़-सौ वर्ष बाद खुदवाया गया था। इस शिलालेखने उस भ्रमका निराकरण करदिया है कि जो ऐतिहासिक पंडितों द्वारा प्रचारित कियागया था कि संस्कृतका अभ्युत्थान बहुत शताब्दियों बाद गुप्त सम्राटोंके हाथों हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गुप्त सम्राटोंके युगसे संस्कृत भाषा ज़्यादा वेगसे चलपड़ी थी, परन्तु यह नितान्त ग़लत बात है कि उससे पहले उसकी (संस्कृत भाषाकी) धारा एकदम रुद्ध होगयी थी।

शुरू शुरूमें मुसलमान बादशाह भी इस भाषाकी महिमा हृदयंगम करसके थे। पठानोंके सिक्कोंसे नागरी अक्षरोंका ही नहीं संस्कृत भाषाका भी अस्तित्व सिद्ध किया जासकता है। परन्तु बादमें ज़मानेने पलटा खाया और अदालतों और राजकार्यकी भाषा फ़ारसी होगयी। इस देशके एक बड़े समुदायने नाना कारणोंसे मुसलमानी धर्मको वरण किया और फलतः एक बहुत बड़े सम्प्रदायकी धर्मभाषा अरबी होगयी। यह अवस्था अधिक-से-अधिक चार-पाँच-सौ वर्षतक रही है। परन्तु आप भूल न जायँ कि

इस समय भी भारतवर्षकी श्रेष्ठ चिन्ताका स्रोत संस्कृतके ही रास्ते बहरहा था। नाना शास्त्र - ग्रन्थोंकी अतुलनीय टीकाएँ, धर्मशास्त्रीय व्यवस्थाके निबन्ध-ग्रन्थ, दर्शन और अध्यात्म विषयक अनुवाद और टीका-ग्रन्थ, और सबसे अधिक नव्य-न्याय और न्यायानुप्राणित-व्याकरण-शास्त्र इसी काल में लिखे जातेरहे। इस युगमें यद्यपि संस्कृत ग्रन्थोंमेंसे मौलिक चिन्ता बराबर घटती जारही थी फिरभी वह एकदम लुप्त नहीं होगयी थी। कुछ शताब्दियों तक भारतवर्ष एक विचित्र अवस्थामेंसे गुज़रा है। उसके न्याय, राज-नीति और व्यवहारकी भाषा फ़ारसी रही है, हृदयकी भाषा तत्तत् प्रदेशों की प्रान्तीय भाषाएँ रही हैं और मस्तिष्ककी भाषा संस्कृत रही है। हृदयकी भाषा बराबर किसी - न - किसी रूपमें देशी भाषाएँ रही हैं। यह और बात है कि दूर पड़जानेसे पिछले हज़ारों वर्षोंके देशी भाषाका साहित्य आज हम न पासकें पर वह वर्तमान ज़रूर रहा है और उसका सम्मान भी हुआ है। मैं आज इस बातकी चर्चा नहीं करूँगा। मैंने अन्यत्र सप्रमाण दिखाया है कि इस देशमें देशी भाषाओंमें सदा काव्य लिखे जातेरहे हों सिर्फ़ यही बात नहीं है बल्कि उनका भरपूर सम्मान भी बराबर होतारहा है।

एक बार मेरे इस कथनको संक्षेपमें आप अपने सामने रखकर देखें तो हमारी वर्तमान भाषा-समस्या काफ़ी स्पष्ट होजायगी। मैंने अबतक जो आपको प्राचीन-कालके खँडहरोंमें भटकाया वह इसी उद्देश्यसे। संक्षेप में बात इस प्रकार है कि—

( १ ) भारतवर्षके दर्शन - विज्ञान आदिकी भाषा सदा संस्कृत रही है।

( २ ) उसके धर्मप्रचारकी भाषा अधिकांशमें संस्कृत रही है, यद्यपि बीच-बीचमें साहित्यके रूपमें और सदैव बोल-चालके रूपमें देशी भाषाएँ भी इस प्रयोजनकेलिए काममें लायी जातीरही हैं।

( ३ ) आजसे चार - पाँच - सौ वर्ष पहलेतक व्यवहार, न्याय और राजनीतिकी भाषा भी संस्कृत ही रही है। पिछले चार-पाँच - सौ वर्षोंसे विदेशी भाषाने इस क्षेत्रको दखल किया है।

( ४ ) काव्यकेलिए सदासे ही कथ्य देशी भाषाएँ काममें लायी गयी हैं और संस्कृत भी सदा इस कार्यके उपयुक्त मानीगयी है।

अब अगर आप ध्यानपूर्वक देखें तो हमारे हजारों वर्षके इतिहास ने हमारी भाषा - समस्याको इस प्रकार सुलझाया है कि हमारे उच्चतर विचार, तर्क, दर्शन, विज्ञान, राजनीति, व्यवहार और हमारे न्यायकी भाषाका सदा एक सामान्य स्टैण्डर्ड रहा है और हमारे इतिहासके एक अत्यन्त सीमित कालमें हमारी भाषाके विशाल साहित्यके एक अत्यन्त नगण्य अंशपर विदेशी भाषाका आधिपत्य रहा है। अर्थात् हमारे कम-से-कम छह-सात हज़ार वर्षके विशाल इतिहासमें अधिक-से-अधिक पाँच-सौ वर्ष ऐसे रहे हैं जिनमें अदालतोंकी भाषा संस्कृत न होकर एक विदेशी भाषा रही है। दुर्भाग्यवश इस सीमित काल और सीमित अंशमें व्यवहृत भाषाका दावा आज हमारी भाषा - समस्याका सर्वाधिक ज़बर्दस्त रोड़ा साबित होरहा है। पर यह एक सामयिक बात है। आज यह जितनी बड़ी बाधाके रूपमें भी क्यों न दीखरही हो, इतिहासकी विशाल पट - भूमिका पर इसे रखकर देखिए तो इसमें कुछ तत्त्व नहीं रहजायगा। यह बात उतनी महत्वपूर्ण नहीं है कि जितनी आपाततः दीखरही है। इस विशाल देशकी भाषा-समस्याका हल आजसे सहस्रों वर्ष पूर्वसे लेकर अबतक जिस भाषाके ज़रिये हुआ है, उसके सामने कोईभी भाषा न्यायपूर्वक अपना दावा लेकर उपस्थित नहीं रहसकती—फिर वह स्वदेशी हो या विदेशी, इस धर्मके माननेवालोंकी हो या उस धर्मके। इतिहास साक्षी है कि संस्कृत इस देशकी अद्वितीय महिमाशालिनी भाषा है—अविजित, अनाहत और दुर्द्धर्ष।

आजसे डेढ़-दो-सौ वर्ष पहलेतक यही अवस्था रही है। इसके बाद नवीन युग शुरू होता है। जमानेके अनिवार्य तरङ्गाघातने हमें एक दूसरे किनारेपर लाकर पटकदिया। दुनिया बदलगयी तथा औरभी तेजीसे बदलती जारही है। अंग्रेज़ी-साम्राज्यने हमारी सारी परम्पराको तोड़दिया है। इन डेढ़-सौ वर्षोंमें हम इतने बदलगये हैं, सारी दुनिया ही इतनी बदलगयी है, कि पुराने जमानेका कोई पूर्वज हमें शायदही पहचान सकेगा। हमारी शिक्षा-दीक्षासे लेकर विचार-वितर्ककी भाषा भी विदेशी होगयी है। हमारे चुनेहुए मनीषी अंग्रेज़ी भाषामें शिक्षा पायेहुए हैं, उसीमें बोलतेरहे हैं और उसीमें लिखतेरहे हैं। अंग्रेजी भाषाने संस्कृतका सर्वाधिकार छीन लिया है। आज भारतीय विद्याओंकी जैसी विवेचना और विचार अंग्रेजी भाषामें है उसकी आधी चर्चाका भी दावा कोई भारतीय भाषा नहीं कर सकती। यह हमारी सबसे बड़ी पराजय है। राजनीतिक सत्ताके छिन जानेसे हम उतने नतमस्तक नहीं हैं जितने कि अपने विचारकी, तर्ककी, दर्शनकी, अध्यात्मकी और सर्वस्वकी भाषाके छिन जानेसे। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें हमअपनीही विद्याको अपनी बोलीमें न कहसकनेके उपहासास्पद अपराधी हैं। यह लज्जा हमारी जातीय लज्जा है। देशका स्वाभिमानी हृदय इस असह्य अवस्थाको अधिक बर्दाश्त नहीं करसकता।

जब हममें राष्ट्रीय चेतनाका संचार हुआ तो हमने देखा कि हम लुटचुके हैं। हमारे नायकोंने कहा : सँभल जाओ। पर क्या सँभलें, कैसे सँभलें ? क्या संस्कृतको अपनाकर ? यह असम्भव है।

क्यों ? जो कलतक सम्भव था वह आज असम्भव क्यों है ? इसलिए कि अब दुनिया बदलगयी है। अब शास्त्र या कोई अन्य ग्रन्थ मुक्ति पाने या परलोक बनानेकेलिए नहीं लिखेजाते, तथा अब विद्या और ज्ञान एक विशेष श्रेणीकी सम्पत्ति नहीं मानेजाते। आज मनुष्यने हर क्षेत्रमें

अपनी प्रधानता बनाली है। जो कुछ है वह मनुष्यकेलिए—चाहे वह धर्म हो, दर्शन हो, राजनीति हो, कुछ भी हो; मनुष्य उसकेलिए नहीं है। वह जमाना ही मरगया जब केवल भाषापर अधिकार करनेकेलिए वर्षों परिश्रम कियाजाता था और जब गर्वपूर्वक कहाजाता था कि 'द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' अर्थात् 'बारह वर्षमें व्याकरण-शास्त्रके सुननेकी योग्यता होती है।' अब भाषा गौण है, विचार मुख्य; और विचार भी ऐसे नहीं जो विचारकेलिए ही लिखेगये हों; विचार भी ऐसे जो मनुष्यकेलिए हों और जिनसे निश्चित रूपसे मनुष्यता उपकृत होती हो। इसीलिए सबसे सीधा रास्ता यह है कि विचारोंको अधिकाधिक सहज भाषामें पहुँचाया जाय। यह सहज भाषा तत्तत् प्रदेशोंकी अपनी-अपनी बोली ही होसकती है। इस युगमें वही हुआ है। हमने अंग्रेज़ीकी प्रतिद्वन्दितामें अपनी-अपनी बोलियोंको खड़ाकिया है। यह उचित है, यही योग्य है; परन्तु यही सबकुछ नहीं है। हमें सारे देशमें एक विचार-स्रोतको बहादेना है। सारे देशमें एक-ही उमंग, एकही आवेग, एकही सहानुभूतिमय हृदय उत्पन्न करना है। यह कैसे हो? इतिहासमें पहली बार हमने इस समस्याको इतने निबिड़-भावसे अनुभव किया है।

आजसे डेढ़-दो-सौ वर्ष पहलेतक संस्कृत भाषाने हमारे भीतर विचारगत एकता बनाएरखनेका प्रयत्न किया था। बंगालके रघुनन्दन भट्ट अपनी व्यवस्थाएँ इसी भाषाके बलपर कन्याकुमारीसे काश्मीरतक पहुँचा सके थे, काशीके नागेश भट्टको व्याकरणशास्त्रीय-विचार सारे देशमें फैलादेनेमें कोई बाधा नहीं पड़ी थी, महाराष्ट्रके गणेश दैवज्ञको अपनी ज्योतिषिक-शोध इस विशाल देशके इस कोनेसे उस कोनेतक फैलादेनेमें कोई कठिनाई नहीं पड़ी। परन्तु आज अवस्था एकदम बदलगयी है। हमारे पास अपना कोईभी स्वदेशी माध्यम नहीं रहगया है जिसके द्वारा हमारे सर्वोत्तम व्यक्ति अपनी ज्ञान-सम्पत्ति अनायासही सारे देशमें फैला

सकें। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थको अपने वेदान्त सम्बन्धी सन्देश विदेशी भाषामें लिखने पड़े, लोकमान्य तिलकको अपनी वेद और ज्योतिष-सम्बन्धी शोध, तथा डॉक्टर भाण्डारकरको हिन्दू देव-देवियोंके विषयमें कियाहुआ महत्त्वपूर्ण अध्ययन विदेशी माध्यमसे देशवासियों तक पहुँचाना पड़ा। ऐसा तो इस देशमें हुआ है कि धर्मोपदेशकेलिए भिन्न-भिन्न प्रान्तोंकी भाषाओंसे काम लियागया हो। थोड़े समयकेलिए ऐसा भी हुआ है कि राजकीय व्यवहारकी भाषा कुछ और होगयी हो, परन्तु हमारे उच्चतर अध्ययन, दार्शनिक विचार और वैज्ञानिक गवेषणाकी भाषा भी विदेशी होगयी हो, ऐसा कभी नहीं हुआ है। इसीलिए राजनीति गत उथल-पुथलके होतेहुए भी सुदूर प्रदेशोंमें फैलाहुआ यह महादेश होते हुएभी इसमें एक अद्भुत एकता पायी जातीरही है। आज इसपर भी विदेशी भाषाका आधिपत्य है। इसीलिए कहता हूँ कि भाषा-समस्याको इतने निविड़ भावसे, ऐसे गाढ़ भावसे हमने अपने समूचे इतिहासमें कभीभी अनुभव नहीं किया।



परन्तु हम अब संस्कृतको फिरसे नहीं पासकते। अगर बीचमें अंग्रेज़ीने आकर हमारी परम्पराको बुरी तरह तोड़ न भी दिया होता तो भी आज हम संस्कृतको छोड़नेको बाध्य होते, क्योंकि वह जनसाधारण की भाषा नहीं होसकती। जिन दिनों एक विशेष श्रेणीके लोग ही ज्ञान-चर्चाका भार स्वीकार करते थे, उन दिनों भी यह कठिन और दुःसह थी। परन्तु आज वह जमाना नहीं रहा। हम बदलगये हैं, हमारी दुनिया पलट गयी है, हमारे पुराने विश्वास हिलगये हैं, हमारी ऐहिकता बढ़गयी है, और हमारे वे दिन अब हमेशाकेलिए चलेगये। भवभूतिके रामकी भाँति हम भी अब यह कहनेको लाचार हैं कि 'ते हि नो दिवसा गताः'—अब वे हमारे दिन नहीं रहे।

अफ़सोस करना बेकार है। हम जहाँ आपड़े हैं वहींसे हमें यात्रा

शुरू करनी है। कालधर्म हमें पीछे नहीं लौटनेदेगा। हमें अपनेको और अपनी दुनियाको समझनेमें अपने हजारों वर्षों के इतिहासका अनुभव प्राप्त है। हम इस दुनियामें नये नहीं हैं, नौसिखुए नहीं हैं। अपने संस्कारों और अनुभवोंकेलिए हमें गर्व है। ये हमें अपनेको और अपनी दुनियाको समझनेमें सहायता पहुँचाएँगे। हमें याद रखना चाहिए कि अनुभव और संस्कार तभी वरदान होते हैं जब वे हमें आगे ठेलसकें, कर्मशील बनासकें। निठल्लेका अनुभव उसे खाजाता है और संस्कार उसे भी अपाहिज बना देता है।

हमारा पुराना अनुभव बताता है कि हम आसेतु - हिमाचल एक भाषासे एक संस्कार, एक विचार, एक मनोवृत्ति तैयार करसकते हैं। और वह एक भाषा संस्कृत है। हमारी नयी परिस्थिति बतारही है कि शास्त्रों की चर्चासे मुक्ति या परलोक बनानेवाला आदर्श अब नहीं चलसकता। "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः"—अर्थात् 'एकभी शब्द भलीभाँति जान लियाजाय तो स्वर्गलोकमें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त होजाता है' का आदर्श इस कालमें नहीं टिकसकता, जबकि प्रत्येक कार्यमें हड़बड़ी और जल्दी - से - जल्दीकी भावना काम कररही है। हमें एक ऐसी भाषा चुनलेनी है जो हमारी हजारों वर्षकी परम्पराओंसे कम-से-कम विच्छिन्न हो और हमारी नूतन परिस्थितिका सामना अधिक - से - अधिक मुस्तैदीसे करसकती हो; संस्कृत न होकर भी संस्कृत-सी हो और साथही जो प्रत्येक नये विचारको, प्रत्येक नयी भावनाको अपनालेनेमें एकदम हिचकिचाती न हो—जो प्राचीन परम्पराकी उत्तराधिकारिणी भी और नवीन चिन्ताकी वाहिका भी हो।

चूँकि वर्तमान युगमें मनुष्यकी प्रधानता समान भावसे स्वीकार करलीगयी है, इसीलिए उसीको दृष्टिमें रखकर इस समस्याको भी हल किया जासकता है। जिस प्रकार मनुष्यकी सुविधाकी दृष्टिसे सहज - सरल देशी भाषाओंको प्रोत्साहित कियागया है, उसी प्रकार बृहत्तर देशके

विराट् मानव - समुदायको दृष्टिमें रखकर सामान्य भाषाकी समस्या भी हल की जारही है। अधिकांश मनुष्य जिस भाषामें बोलसकते हों, अधिकांश मनुष्योंकी नाँड़ीके साथ जिस भाषाका अच्छेद्य सम्बन्ध हो, वह भाषा क्या है ? आपसे कहनेकी आवश्यकता नहीं। आपने अपने ढंगसे उसका उत्तर खोजलिया है। इसीलिए ही आप यहाँ एकत्र हुए हैं। पर मैं आपको संस्कृतकी याद एकबार फिर दिलादेता हूँ। हिन्दी या हिन्दुस्तानी हमारी अधिक जनोंकी समझमें आनेवाली अधिक प्रचलित भाषा ज़रूर है पर संस्कृतने हमारे सर्वदेशकी भाषापर जो अपना अनुत्सारणीय ( न हटाया जासकनेवाला ) प्रभाव रखदिया है वह कम नहीं है। हम हजार संस्कृतकी परम्परासे च्युत होगये हों और उस भाषा तथा उसके विशाल साहित्यको भूलगये हों, पर वह हमसे दूर नहीं होसकती। हमने चाहे कमलीको छोड़ दिया हो पर कमली हमें नहीं छोड़सकती। संस्कृतने हममें अबभी चौदह आना एकता कायम कररखी है। नये सिरेसे हमें दो आना ही प्रयत्न करना है। वस्तुतः हिन्दी और अन्यान्य भारतीय भाषाओंमें १४ आना ही साम्य है। दो आना ही हमें नये सिरेसे गढ़ना है। यह आप कररहे हैं।

परन्तु मैं उम्मीद करता हूँ कि आपने मुझे गलत नहीं समझा है। मैं भाषाके संस्कृत बनानेकी वकालत नहीं कररहा हूँ। मैं कहरहा हूँ कि पिछले हजारों वर्षके इतिहासने हमें जो कुछ दिया है, उससे हम सबक सीखें। मेरे कथनका तात्पर्य यह नहीं है कि हम विदेशी शब्दोंका बहिष्कार करें। अगर आपने मेरे कथनका यह अर्थ समझा हो तो मैंने कहीं अपनी बात उपस्थित करनेमें गलती कीहोगी। मैं ऐसा कैसे कहसकता हूँ जबकि हमारी श्रद्धेय संस्कृत भाषाने ही विदेशी शब्दोंको ग्रहण करनेका रास्ता दिखाया है। हमारे संस्कृत साहित्यमें होरा, द्रेक्काण, अपोक्लिम, पणफर, कौर्प्य, जूक, लेय, हेलि आदि दर्जनों ग्रीक शब्द व्यवहृत हुए हैं। ये ग्रीक शब्दोंके संस्कृतवत् रूप हैं, परन्तु संस्कृतमें इतने अधिक प्रचलित

होगए हैं कि कोई संस्कृतका पंडित इनकी शुद्धता एकमें भी सन्देह नहीं करता। कम से-कम एक कोड़ी ग्रीक शब्द मैं आपको ऐसे देसकता हूँ कि जिनका व्यवहार धर्मशास्त्रीय व्यवस्था देनेवाले ग्रन्थोंमें होता है। ज्योतिषके ताजक-शास्त्र (वर्षफल, मासफल आदि बतलानेवाला ज्योतिषशास्त्रका एक अङ्ग) के योगोंके नाममें बीसियों अरबी शब्द मिलेंगे। ताजक नीलकण्ठी (एक ज्योतिष - ग्रन्थ) से यदि मैं एक श्लोक पढ़ूँ तो आप शायद समझेंगे कि मैं कुरानकी आयत पढ़रहा हूँ—

'खल्लासरं रद्दमथो दुफालिः कुत्थं तदुत्थोत्थ दिवीर नामा।'

और

'स्यादिक्कवालः इशराफ योगः'—इत्यादि

रमल ('रमल' नामक ज्योतिष विद्या) के ग्रन्थोंमें कोड़ियों (बीसों) अरबी और फारसीके शब्द व्यवहृत हुए हैं। एक श्लोकमें 'तारीख' शब्दका ऐसा व्यवहार कियागया है मानो वह पाणिनिका ही शब्द है- 'तारिखे च त्रितये त्रयोदशे'। सुलतान शब्दका 'सुरत्राण' रूप संस्कृतके काव्य ग्रन्थोंमें ही नहीं, मुसलमान बादशाहोंके सिक्कोंपर भी पायाजाता है। पुरातन प्रबन्ध संग्रहमें एक जगह मसजिदको 'मसीति' बनाकर ही प्रयोग नहीं कियागया है, अनुप्रासके साँचेमें बैठाकर 'अशीतिर्मसीति' कहकर उसमें सुकुमारता भी लायीगयी है। नहीं, मैं यह नहीं कहरहा हूँ कि आप विदेशी शब्दोंको निकालना शुरू करें। मुझे गर्व है कि आपने आज जिस भाषाको अपनेलिए सामान्य - भाषाके रूपमें वरणकिया है, उसने उर्दूके रूपमें इतने विदेशी शब्दोंको हजम किया है कि संसारकी समस्त विदेशी भाषाओंको पाचन - शक्तिकी प्रतिद्वन्दितामें पीछे छोड़गयी है। प्रचलित शब्दोंका त्याग करना मूर्खता है; पर मैं साथही ज़ोर देकर कहता हूँ कि किसी विदेशी भाषाके शब्दोंके आजाने - भरसे वह विदेशी भाषा संस्कृतके साथ बराबरीका दावा नहीं करसकती। वह हमारे नवीन भावोंके प्रकाशन

केलिए संस्कृतके शब्दोंको गढ़नेसे हमें नहीं रोकसकती। प्रचलित शब्दों को विदेशी कहकर त्याग देना मूर्खता है; पर किसी भाषाके शब्दोंका प्रचलन देखकर अपनी हजारों वर्षकी परम्पराकी उपेक्षा करना आत्मघात है। संस्कृतने भिन्न - भिन्न भाषाओंसे हज़ारों शब्द लिये हैं; पर उन्हें संस्कृत बनाकर। हम अब भी विदेशी शब्दोंको लें तो उन्हें भारतीय बनाकर इस देशके उच्चारण और वाक्य-रचना-परम्पराके अनुकूल बनाकर।

मगर यह तो मैं अवांतर बात कहगया। मैं मूल प्रश्नपर फिर आ रहा हूँ। इस युगका मुख्य उद्देश्य मनुष्य है। इस युगका सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि विज्ञानकी सहायतासे जहाँ बाह्य भौगोलिक बन्धन तड़ातड़ टूटगये हैं वहाँ मानसिक संकीर्णता दूर नहीं हुई है। हम एक-दूसरेको पहचानते नहीं। तीन दिनमें सारे संसारकी यात्रा करके लौटेहुए यात्रा - विलासी लोगों और नाना प्रकारके स्वार्थ - परायणोंकी पुस्तकोंने संसारमें घोर ग़लतफ़हमी फैलारखी है। इस देशमें ही हम एक प्रदेशवाले दूसरे प्रदेशके लोगोंको नहीं समझरहे, एक सम्प्रदायके लोग दूसरे सम्प्रदायके लोगोंको नहीं पहचानरहे। इसीलिए इतनी मारामारी - काटाकाटी चलरही है। आपने जब एक सामान्य भाषाको बनानेकी ठानी है तो आप से आशा होती है कि आप यहीं नहीं रुकेंगे। यह भी बाह्य (बाहरी) बात है। औरभी आगे चलिए। एक साहित्य बनाइए। ग़लतफ़हमी दूर कीजिए। ऐसा कीजिए कि एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदायको समझसके। एक धर्मवाले दूसरे धर्मवालेकी क़दर करसकें। एक प्रदेशवाले दूसरे प्रदेशवालेके अन्तरमें प्रवेश करसकें। ऐसा कीजिए कि इस सामान्य माध्यम के द्वारा आप सारे देशमें एक आशा, एक उमंग और एक उत्साह भर-सकें। और फिर ऐसा कीजिए कि हम इस भाषाके ज़रिये इस देशकी और अन्य देशोंकी, इस कालकी और अन्य कालोंकी समूची ज्ञान - सम्पत्ति आपसमें विनिमय करसकें। आपका व्रत सफल हो, शुभ हो!

आपने मेरे जैसे अकिंचनके विचारोंको ध्यानपूर्वक सुना है यह मेरा परम सौभाग्य है। आप वर्तमानकी शक्ति, भविष्यकी आशा हैं। मैं आपको सादर प्रणाम करता हूँ।

तृतीय-चतुर्थ पदवीदान समारम्भ
रविवार, कार्तिक कृ० ४, १९९७
२० अक्टूबर १९४०

---

# हिन्दी : उर्दू : हिन्दुस्तानी : फ़ारसी : देवनागरी

मैं आपका कृतज्ञ हूँ कि आपने मुझे भी श्री जैनेन्द्रजी, आचार्य क्षितिमोहन सेन, पण्डित हजारीप्रसादजी और पण्डित माखनलालजीके साथ एक पंक्तिमें ला खड़ाकिया है। मैं इस अवसरपर औपचारिक व हार्दिक कृतज्ञता-प्रकाशन न कर आपको बधाई देना चाहता था। वह तभी सम्भव था कि आपको इस भारके वहन करसकनेवाला इस पदके अनुरूप कोई व्यक्ति मिलजाता। अब मैं आपको बधाई नहीं देसकता। आपने तो व्यक्तिगत रूपसे—आपके मन्त्रीने तो—

जब फ़रिश्तोंसे न यह उठसका बार,<br>
इस तने खाकीके सरपर रखदिया।

आपके मन्त्री आपसे कहेंगे कि मैं उनके साथ इस पदके अनुरूप व्यक्तिको ढूँढनेके प्रयत्नमें शामिल रहा हूँ। गङ्गा, जमना, सरस्वतीके संगम पर रहनेवाली हिन्दीकी एक विभूतिके सामने जब मैंने आपके मन्त्रीका निवेदन और अपना समर्थन रखा तो वे बड़ीही वेदनाके साथ बोलीं—"इस समय जब हम हारेहुए हैं, इस समय जब हम पराजित हैं, इस समय जब हम हरतरहसे परवश हैं, मुझसे कुछ न कहा जासकेगा।" अवस्था ऐसीही है, तोभी मैं चाहता हूँ कि हम जातक-कथाओंके पंचायुधकुमारको अपना आदर्श मानें। यह पंचायुधकुमार कौन हैं? संक्षेपमें उनकी कथा इस प्रकार है—

"पूर्व समयमें वाराणसीमें (राजा) ब्रह्मदत्तके राज्य करनेके समय उसकी पटरानीकी कोखसे बोधिसत्व—भगवान् बुद्धके पूर्वजन्मोंमें उनकी

संज्ञा 'बोधिसत्व' रही है—उत्पन्न हुए। नामकरणके दिन एकसौ आठ ब्राह्मणोंकी सब कामनाएँ पूरीकर, उनसे उसके लक्षण पूछे गये। ब्राह्मणोंने कहा—महाराज, कुमार पुण्यवान् है, तुम्हारे बाद राज्य प्राप्त करेगा। पाँच शस्त्रोंके चलानेमें प्रसिद्ध हो, जम्बूद्वीपमें अग्र-पुरुष होगा। ब्राह्मणोंकी बात सुन नामकरण करनेवालोंने उसका नाम रखा पंचायुधकुमार।

बड़े होनेपर एक दिन पिताने कहा—

तात, शिल्प सीख।

देव, किसके पास सीखूँ?

तात, जा, गान्धार देशके तक्षशिला नगरमें लोक-प्रसिद्ध आचार्यके पास जाकर सीख। आचार्यकी फ़ीस देनेकेलिए पिताने उसे एक हज़ार मुद्रा दीं।

कुमार तक्षशिलासे शिल्प ग्रहणकर, पाँच हथियारबन्द हो, वाराणसीकी ओर लौटा। मार्गमें एक जंगल था। जहाँ श्लेषलोम (लेशदार बाल) नामका यक्ष रहता था। कुमारको जंगलमें प्रवेश करते देख मनुष्योंने रोका— माणवक, इस जंगलमें मत प्रविष्ट हो। इस जंगलमें श्लेषलोम नामक यक्ष है। वह जिस किसी मनुष्यको देखता है, खाजाता है।

कुमार निर्भीत केशर सिंहकी तरह जंगलमें घुसही गया। वहाँ उसने देखा—ताड़ जितना ऊँचा है, घर जितना (बड़ा) सिर है, बरतनों जितनी बड़ी-बड़ी आँखें हैं, कन्दलकी कली जितने बड़े-बड़े दाँत हैं, श्वेत मुख है, चितकबरा पैर है और हैं जिसके नीले हाथ-पाँव। कुमारको आगे बढ़ता देख ऐसा वह यक्ष बोला—

कहाँ जाता है, ठहर, तू मेरा आहार है।

यक्ष, मैंने अपनी सामर्थ्यका अन्दाज़ा लगाकर ही यहाँ प्रवेश किया है। तू सँभलकर मेरे समीप आना। मैं तुझे विषमें बुझेहुए तीरसे बींधकर यहीं गिरादूँगा।

कुमारने हलाहल विषसे बुझाहुआ तीर छोड़ा। वह जाकर यक्षके बदनके बालोंमें चिपकगया। उसके बाद दूसरा-तीसरा इस प्रकार पचास तीर छोड़े। सब उसके रोमोंमें ही चिपकरहे। यक्ष सभी तीरोंको तोड़-मरोड़, पैरोंके नीचे गिरा, बोधिसत्वकी ओर बढ़ा।

उसे समीप आता देख कुमारने खड्ग निकाल प्रहार किया, तेंतीस अँगुल लम्बी तलवार रोमोंमें ही चिपकरही। बरछीसे प्रहार किया। वह भी रोमोंमें ही चिपकरही। मुद्गरसे प्रहार किया, वह भी रोमोंमें ही चिपक रहा। तब कुमार बोला—

हे यक्ष, क्या तूने मुझ पंचायुधकुमारका नाम पहले कभी नहीं सुना? मैंने तेरे जङ्गलमें धनुष आदिके भरोसे ही प्रवेश नहीं किया है। मैंने अपना ही भरोसाकर प्रवेश किया है। आज मैं तुझे मारकर चूर्ण-विचूर्ण करूँगा।

यह कह उसने दाहिने हाथसे यक्षपर प्रहार किया, हाथ रोमोंमें चिपकगया। बायें हाथसे प्रहार किया, वह भी चिपकगया। दायें पैरसे प्रहार किया, वह भी चिपकगया। बायें पैरसे प्रहार किया, वह भी चिपक गया। सिरसे टक्कर मारकर चूर्ण-विचूर्ण करूँगा—सोच सिरसे प्रहार किया। वह भी रोमोंमें चिपकगया।

पाँच जगह चिपका हुआ, पाँच जगह बँधा हुआ, इस प्रकार बुरी तरह लटकता हुआ भी वह निर्भय ही रहा। यक्ष सोचनेलगा—यह सचमुच कोई पुरुष-सिंह है, साधारण आदमी नहीं है। मैंने इससे पहले एकभी ऐसा आदमी नहीं देखा। वह बोला—

माणवक, तू मरनेसे क्यों नहीं डरता?

यक्ष, मैं क्यों डरूँगा? एक जन्ममें एकबार मरना तो निश्चित है, और मेरी कोखमें एक वज्र-आयुध है। यदि मुझे खायेगा, तो तू उस आयुधको न पचासकेगा। वह आयुध तेरी आँतोंको टुकड़े-टुकड़े कर तुझे मारडालेगा। मरना ही होगा तो दोनों मरेंगे। मैं क्यों डरूँ?

यक्ष बोला—माणवक, तू पुरुष - सिंह है। मैं तेरा मांस नहीं खाऊँगा। आज तू राहु - मुखसे मुक्त चन्द्रमाकी तरह मेरे हाथसे छूटा। जा अपनी जाति, सुहृद्-मण्डलको प्रसन्न करताहुआ जा।

आज पाँच जगहोंसे नहीं, पचासों जगहोंसे बँधेहुए इस महान् राष्ट्रके पास वह कौनसा वज्र-आयुध है जो इसकी मुक्तिका साधन बनसके? वह वज्र-आयुध है—हम सबका अपनी भाषा वा भाषाओंका प्यार।

यह शायद अवसर है जब मैं आपके सम्मुख अपनी कुछ आशाएँ रखूँ, क्योंकि आपमेंसे अनेक कलतक ही परीक्षार्थी रही हैं वा रहे हैं। आगामी कलमें तो किसी-न-किसी रूपमें आप हिन्दीके धर्मदूतों, प्रचारकों में अपना नाम लिखानेवाले हैं। लेकिन अपनी कुछ आशाएँ रखने से पहले शायद मुझे अपने कुछ विचार व्यक्त करने होंगे। आपने देखा कि मैंने अपनी भाषा वा भाषाओंके प्यारको 'वज्रायुध' कहा है, लेकिन भाषा व भाषाओंका प्रश्न एकदम कोई सरल-सी वस्तु है? कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि एक उलझन है, उस उलझनमें भी उलझन है और उन दोनों उलझनोंमें भी फिर एक तीसरी उलझन है। समझमें नहीं आता कि ये उलझनें किन पुण्यवान् हाथोंद्वारा सुलझ सकेंगी।

हमारा यह महान् राष्ट्र अनेक दृष्टियोंसे एक सुलझा हुआ राष्ट्र है। एक सिरेसे दूसरेतक एकदम पराधीन। लेकिन तबभी हमारी भाषा-सम्बन्धी चर्चामें उलझनें हैं। उसका मुख्य कारण है हममेंसे अधिकांश लोगोंकी आँखपर लगीहुई मज़हबी ऐनक। हम स्टेशनोंपर पानी पीते समय ठण्डा या गर्म देखनेसे पहले यह देखते हैं कि पानी हिन्दू है वा मुसलमान! दूसरे देशोंमें भी दो-दो तीन-तीन मज़हब हैं, लेकिन वहाँ समाज एकही होता है। दूसरे देशोंमें भी धर्मान्तर होता है, लेकिन वहाँ धर्मान्तरके साथ समाजान्तर नहीं होता। हमारे देशमें जितने मज़हब हैं, उतने समाज।

क्या कहें! बङ्गालमें भीषण अकाल है। उस समय भी श्री जिन्ना

की सहायता केवल मुसलमानोंकेलिए है। और सभीके प्रयत्नोंके बावजूद भी वे अभागे तड़प-तड़पकर मरजाते हैं, तो इन जीवितोंका यह बटवारा मरघट और क़ब्रिस्तानतक मुर्दोंका पीछा करता है। हिन्दूको हिन्दू जलाता वा गङ्गामें बहाता है और मुसलमानको मुसलमान।

यही दृष्टि व्यापक है, और भारत-माँके दो टुकड़े होनेही हैं और वह दो टुकड़े 'हिन्दू तथा मुसलमान' ही हैं, तब किसीभी समस्यापर कुछ-भी विचार नहीं होसकता। किन्तु, मैं मानता हूँ कि आज हर मज़हबके अनुयायियोंमें ऐसी संख्या पनपरही है जो मज़हबी दृष्टिकोणसे देखनेसे इन्कार करती है। इसीलिए मैं आज आप लोगोंसे कुछभी निवेदन करनेका साहस कररहा हूँ।

आज हम जिस अवस्थामेंसे गुज़ररहे हैं, उसमें अपने विवेकको सँभाले रखना आसान नहीं। अन्धी कट्टरता और अन्धी उदारता, ये दोनों ही विवेकके दो बड़े शत्रु हैं। विवेक जीवन - यात्रीका सबसे बड़ा पाथेय ( मार्ग का कलेवा ) है। मैं देसकूँ तो आपको इसीकी भेंट देना पसन्द करूँगा। लेकिन मेरी अपनी पूँजी भी कितनी है?

मैं नहीं जानता कि आप सब इस समय किस कार्यमें लगेहुए हैं। कुछ विद्यार्थी होंगे जो जीवन - मार्गपर आरूढ़ होनेकी तैयारी कररहे हैं। कुछ पहलेही बहुतकुछ आगे बढ़गये होंगे। आप कुछभी करते हों वा करें, इतनी तो आशा आपसे यह विद्यापीठ रख ही सकता है कि आप इसे न भूलेंगे, और विद्यापीठको न भूलनेका मतलब है हिन्दीको न भूलना।

पूरी एक शताब्दीसे भी अधिक समय बीतगया। मैकॉलेने इस देशमें कुछ कारखाने खोले, खुलवाये। जिनमें ऐसे तरुण तैयार कियेजाते थे, जिनका रक्त और रङ्ग ही भारतीय हो, शेष सबकुछ अंग्रेजी हो— विचार अंग्रेज़ी हों, आदर्श अंग्रेज़ी हों, बुद्धि अंग्रेज़ी हो। उसकी यह नीयत और उसके फल आज सर्व - परिचित हैं। उसको विशेष दोष नहीं दिया

जासकता, उस बिचारेकी राय थी कि एक अच्छी यूरोपियन लायब्रेरीकी एक अलमारीके एक खानेकी पुस्तकोंका मूल्य वा महत्व सारे भारतवर्ष तथा अरबके साहित्यसे अधिक है। ऐसे कारखाने इस देशमें आजभी घर-घर, नगर-नगर फल-फूलरहे हैं। वे कारखाने तथा उन कारखानोंके तैयारशुदा माल ही हमारी पराधीनताकी सबसे ज़बरदस्त बेड़ियाँ हैं। आप जो 'हिन्दी-विद्यापीठ' से दीक्षित होकर हिन्दीकी जड़ें सींचना चाहते हैं, आपका आदर्श जितना ऊँचा है कार्य उससे भी अधिक महान् ही नहीं कठिन भी है।

यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं आरम्भमें ही एक बात कहदेना चाहता हूँ। वह यह कि आप हिन्दीकी बात सोचतेहुए सदैव कुछ ऊँचे धरातलसे सोचें। आप अपनी दृष्टिसे हिन्दी-प्रचारका कार्य्य करें, लेकिन कोई भाई 'हिन्दुस्तानी-प्रचार' के नामपर आपसे कुछ भिन्न रीति-नीति ग्रहण किये हो तो उसे अपना विरोधी नहीं, बल्कि सहायक ही समझें, और यदि कोई उर्दूके प्रचारके नामपर औरभी अधिक भिन्न रीति-नीति ग्रहण किये हो तो उसे भी आप अपना सहायक ही समझें। यह याद रखें कि हिन्दी-हिन्दुस्तानी-उर्दू तीनोंको मिलकर किसी एक अन्यका विरोध करना है। ठीक वैसे ही जैसे रूस, अंग्रेज़ तथा अमेरिका तीनों मिलकर आज एकका विरोध कररहे हैं। हमें यह विरोध किसका करना है? अपनी परवशताका—परावलम्बताका।

अब हम राष्ट्रभाषाके क्षेत्रमें काम करनेवाले इस ऊँचे धरातलसे नीचे न उतरकर थोड़ा विचार करें। सबसे पहले हम अपने देशकेलिए एक लिपिकी समस्यापर ही विचार क्यों न करें?

इधर कुछ दिनोंसे लोगोंमें एक तोता-रटन्त प्रचलित होगयी है कि हिन्दुस्तानमें दो लिपियाँ हैं—एक हिन्दी, दूसरी उर्दू। कहनेको कोई जो चाहे, जो मर्ज़ी हो कहे; लेकिन न हिन्दी कोई लिपि है, न उर्दू। हमारे

देशमें कम - से - कम दस प्रधान लिपियाँ प्रचलित हैं—नागरी, बङ्गला, गुजराती, गुरुमुखी, तामिल, तेलुगु, कनाडी, मलयालम, फ़ारसी (उर्दू) तथा रोमन। इनमें नागरी या देवनागरी लिपि ही सर्वप्रधान है। हिन्दी भाषाकी तो यही लिपि है, संस्कृतके अधिकांश ग्रन्थ इसी लिपिमें छपते हैं। मराठी भाषाकी यही लिपि है। और गुजराती भाषाकी भी लिपि क्या केवल शिरोरेखा-रहित नागरी ही नहीं है? बंगला, गुरुमुखी सदृश लिपियों के ज्ञाता इस लिपिको बिना विशेष प्रयासके ही सीख सकते हैं। बाक़ी तेलुगु, तामिल आदि दक्षिण भारतकी जो लिपियाँ हैं, उनका भी मूल स्रोत वही ब्राह्मी लिपि है जो देवनागरीका। १९३१ की मर्दुमशुमारीके अनुसार १०००० मनुष्योंमेंसे लगभग सात हज़ार मनुष्य देवनागरी लिपि तथा देवनागरी लिपिके किसीभी एक प्रकारमें लिखीजानेवाली भाषाओंका प्रयोग करते थे। इन सात हज़ारमें हमने दक्षिण भाषा - भाषियोंको नहीं गिना है। उन्हें भी गिनलें तो न जाने यह संख्या कहाँ पहुँचेगी? उत्तर-भारतमें तो स्पष्टतः ही देवनागरी की प्रधानता है; लेकिन दक्षिण भाषा-भाषियोंकेलिए उनकी अपनी लिपियोंके बाद देवनागरी ही उनकी समीपतम लिपि है।

साक्षरताकी जिस देशको सबसे अधिक आवश्यकता है, उसीमें उसका सबसे अधिक अभाव है। हमें बतायाजाता है कि निरक्षर आदमी भी ज्ञानी होते हैं और होसकते हैं—पुराने समयमें बहुश्रुत होते थे बहु-पठित नहीं होते थे। हाँ, एक समय किसीकेलिए बहुश्रुत होना पर्याप्त था, लेकिन आज अपठित रहना लगभग अन्धे रहनेके समान है। इस अन्धेपन को विशेषरूपसे देश - भरकी माताओंकी असंख्य संख्याके अन्धेपनको हम जिस किसी लिपिद्वारा सबसे अधिक आसानीसे दूर करसकते हैं मेरा उत्तर है, देव - नागरी द्वारा। जिस समय मैं 'देवनागरी' शब्दका व्यवहार कररहा हूँ, मेरा मतलब देवनागरी लिपिकी अपेक्षा देवनागरी वर्णमालासे

अधिक है। गुजराती, बंगला आदिकी लिपिके सामान्य भेद गौण हैं, उनकी वर्णमाला एकही है। थोड़ी आश्चर्यकी बात होनेपर भी यह सत्य है कि सिन्धी लिपि जो कि आज दिन फ़ारसी हरूफोंमें लिखीजाती है, उसकी भी वर्णमाला कुछ - कुछ देवनागरी वर्णमाला ही है, अथवा उसमें देव-नागरी वर्णमालाके अनेक अवशेष हैं।

उक्त दोनों बातोंको ध्यानमें रखकर ही मैं देवनागरी वर्णमाला तथा लिपिको अपनी राष्ट्रलिपिके रूपमें अंगीकार करता हूँ। आप भी सभी करते ही होंगे।

प्रश्न होसकता है कि राष्ट्रलिपिसे क्या मुराद है? क्या फ़ारसी अथवा उर्दू आदि लिपियोंको हम देशसे उसी प्रकार बाहर निकाल देना चाहते हैं जैसे टर्कीने अर्बीको? नहीं, बिल्कुल नहीं। जिन्हें एकसे अधिक लिपियाँ सीखने का अवकाश है, सामर्थ्य है, वह क्यों न उर्दू आदि लिपियाँ भी सीखें? स्वर्गीय प्रेमचन्द्रजी अन्त समयतक उर्दूमें भी लिखते ही रहे। मैं स्वयं अपने एक दो निकटस्थ सम्बन्धियोंसे उर्दूमें ही पत्र-व्यवहार रखता हूँ। देवनागरी लिपिको अपनी राष्ट्रलिपि कहनेसे केवल इतनीही मुराद है कि जिस प्रकार हम यह कहते हैं कि प्रत्येक भारतीयको अपनी राष्ट्रलिपि देव-नागरीसे अवश्य परिचित होना चाहिए, उसी प्रकार हम यह नहीं कहते कि उसे उर्दू आदि अन्य लिपियोंसे भी अवश्य परिचित होनाही चाहिए। नागरी लिपिके अतिरिक्त अन्य लिपियोंके ज्ञाताओंसे हम यह प्रार्थना करना धर्म-समझते हैं कि वह जैसे-तैसे भी हो नागरी-लिपि अवश्य सीख लें। जो नागरी लिपिसे परिचित हैं उनकेलिए किसीभी दूसरी लिपिका ज्ञान उनका ऐच्छिक विषय है। यूँ एक आदमी जितनी भी लिपियाँ जाने उतना ही अच्छा है, लेकिन निरक्षर भट्टाचार्योंके इस देशमें एकसे अधिक लिपियोंको शिक्षाका माध्यम बनाना हमें अपनी राष्ट्रीय शक्तिकी सीमाके बाहरकी बात लगती है।

कुछ लोग सुझारहे हैं कि उर्दू-लिपिको भी नागरी-लिपिके साथ बराबरीका दर्जा देदियाजाय। इसमें बराबरका दर्जा देने, न देनेका प्रश्न है ही नहीं। यह तो सीधी-सादी व्यावहारिक कठिनाईकी बात है। आज हमारा प्रयत्न है कि पंजाबी, गुजराती, बंगला आदि सभी भाषाएँ मराठी और हिन्दीकी ही तरह देवानगरीमें लिखीजायँ। सभी भाषाओंकी वर्णमाला एक है, लिपि लगभग एक है। थोड़ेसे प्रयत्नसे क्यों न गुजराती के अन्य ग्रन्थ भी हिन्दी भाषाभाषियों तथा देवनागरी लिपिसे परिचित अन्य लाखों व्यक्तियोंकेलिए उसी प्रकार सुलभ तथा सुपाठ्य होजायँ जैसे बापूजीकी आत्मकथा व रविबाबूकी गीताञ्जली ! अब क्या उर्दूको भी बराबरी का दर्जा देनेके नामपर हम अपने प्रान्तीय साहित्योंको जहाँ नागरी लिपि में छपा देखना चाहेंगे, वहाँ क्या उर्दू लिपिमें भी छपा देखना चाहेंगे ? ज़रा-सी ग़लत स्थापनासे सारे राष्ट्रकी कितनी शक्तिका अपव्यय होसकता है!

मैं फिर सावधान कियेदेता हूँ। न मैं नागरी लिपिको हिन्दुओंकी बपौती मानता हूँ, न उर्दूको मुसलमानोंकी। मैं उस प्रान्तमें पैदा हुआ हूँ जहाँ हिन्दू, मुसलमानोंसे कम उर्दू लिपिका ज्ञान नहीं रखते। पंजाबके एक हिन्दूको किसीभी दूसरे प्रान्तके एक सामान्य मुसलमानकी अपेक्षा उर्दूका अधिक ज्ञान होता है। इसलिए आप कृपया उभय पक्षके साम्प्रदायिक प्रचारकोंकी दृष्टिसे इस चीज़को न सोचें। उर्दू भी आज दिन अपने देशकी एक लिपि है। हम देवनागरीको जो अधिक महत्व देरहे हैं, वह केवल उसे अधिक उपयोगी समझनेके कारणही। उर्दू-लिपिके भी अपने गुण हैं और उसका भी अपना महत्व है।

एक और लिपि भी है जो चाहती है वा जिसे कुछ लोग चाहते हैं कि वह ही पटरानी बनजाय। वह है रोमन लिपि। नागरी-प्रचारणी सभा की कुछभी कार्रवाई उर्दू लिपिमें नहीं होती और अंजुमने तरक्क़िए-उर्दू की देवनागरी लिपिमें नहीं; लेकिन रोमन-लिपिमें दोनोंकी कुछ-न-कुछ

कार्रवाई अवश्यही होती होगी। जिसका विरोध दोनोंको करना चाहिए, उसके सामने दोनोंको सिर झुकाना पड़ता है। किया भी क्या जाय? राज्याश्रय प्राप्त है, राज्यभाषाकी लिपि है, और उसमें अच्छे-अच्छे टाइपराइटर हैं। एक औरभी बात है। रोमन-लिपिके समर्थकोंका कहना है कि देवनागरी लिपिके कम-से-कम ७०० टाइपोंके बिना छपाईका काम नहीं हो सकता—उर्दूकी लीथो छपाईमें तो टाइपोंका काम ही नहीं—और रोमन में कुल जमा २६ अक्षर चाहिए। यह तर्क जितना सबल प्रतीत होता है उतना सबल है नहीं। २६ अक्षरोंकी तो बात-भर है। वहाँ २६ × ३ = ७८ तो होते ही हैं। जो भारतीय भाषाको शुद्ध-शुद्ध नहीं लिखसकती—हाँ लिख सकती है, संस्कृत और अरबीतकको लिखसकती है, लेकिन ऊपर और नीचे न जाने कितने चिन्ह लगानेके बाद। रोमनवालोंने अपनी लिपिमें आवश्यक परिवर्तन करके अपना काम चलाया, अपनी लिपिको हमारे ग्रन्थ लिखनेके योग्य बनाया—उसकेलिए एक पृथक् लिपि ही बनाडाली--तो क्या हम भी अपनी लिपिमें कुछ परिवर्तन करके उसे वर्तमान युगकी छापेखाने आदिकी आवश्यकताओंका पूरक नहीं बना सकते? अवश्य हम ऐसे अपरिवर्तनवादी नहीं कि इतना भी न करसकें।

ब्राह्मी लिपि परिवर्तित होते-होते आजकी देवनागरी बनी है। अपरिवर्तनशील कुछभी तो नहीं है। इस युगकी छापे तथा टाइपराइटरकी आवश्यकताओंकी भी थोड़ी छाप लिपि पर लगेगी ही। आप लोगोंमें से कोई उससे घबरानेवाले नहीं होंगे। हाँ, यह परिवर्तन बहुत ही सावधानी के साथ, बहुतही विचारपूर्वक प्रायः सर्वसम्मत होने चाहिए।

हमारी देवनागरी लिपि हमारी राष्ट्रलिपि है—समस्त संसारको भेंट करने योग्य अमूल्य निधि है। हमें उसकी रक्षा और प्रसार करना ही है।

जिस प्रकार अर्थात् जिस दृष्टिसे हमने अपनी राष्ट्रलिपिके बारेमें विचार किया, उसी दृष्टिसे हमें अपनी राष्ट्रभाषाके बारेमें भी विचार करना

योग्य है। कलकत्ता विश्वविद्यालयके सुनीतिकुमार चट्टोपाध्यायका विचार है कि समस्त भारतकेलिए एक राष्ट्रभाषाकी कोई ऐसी आवश्यकता नहीं कि उसकेलिए विशेष जल्दी कीजाय, क्योंकि वह यह नहीं चाहते कि लोग हिन्दी पढ़ें और अंग्रेज़ीको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखें। मैं समझता हूँ कि जिस जगहपर उन्होंने इन वाक्योंका प्रयोग किया है, वह बड़ेही मर्यादित अर्थोंमें, क्योंकि सुनीति बाबूका हिन्दी-प्रेम प्रसिद्ध है, लेकिन क्योंकि इस बातका खतरा है कि कहीं उनके इस कथनका कोई ग़लत अर्थ न लगाले, इसलिए मैं निवेदन करदेना चाहता हूँ कि सचमुच यदि अंग्रेज़ी का भारतमें वह स्थान अक्षुण्ण बनारहना है हीं, जो आज उसे प्राप्त है तो वास्तवमें हमें अपनी राष्ट्रभाषाके प्रसार करनेकी तथा उसे उन्नत बनानेकी वैसी आवश्यकता नहीं। लेकिन मैं क्या करूँ,. मैं उनमेंसे हूँ जिनका सिर लज्जासे उस समय झुकजाता है जब उन्हें यह बतायाजाता है कि उनके देशमें कोई एक भी भाषा ऐसी नहीं है जो ऊँची-से-ऊँची शिक्षाका माध्यम बनसके। हर भाषाका अपना-अपना स्थान है, लेकिन फिरभी क्या इतने बड़े महान् राष्ट्रकी कोईभी भाषा तथा उसका साहित्य इस योग्य नहीं कि हम उसे अंग्रेज़ीके हमपल्ला रखसकें? यदि यह बात ग़लत है तो हम प्रसन्न हैं, और यदि यह बात ठीक है तो यही सबसे बड़ा कारण है कि हम कुछ समयकेलिए अंग्रेज़ीकी ओरसे मुँह मोड़कर भी अपने देशकी किसी भाषाको इस योग्य बनायें कि वह दो स्वतन्त्र भारतीयोंके बीच उसी प्रकार माध्यम बनसके जैसे आजदिन अंग्रेज़ी दो अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे पराधीन भारतीयोंके बीचका माध्यम बनीहुई है।

भारतमें अनेक लिपियों ही की तरह अनेक भाषाएँ प्रचलित हैं—हिन्दी, बङ्गला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु इत्यादि। उर्दू भाषा नामकी कोई पृथक् भाषा नहीं है। आप यह भी कहसकते हैं कि हिन्दी भाषा नामकी कोई पृथक् भाषा नहीं है। हिन्दी और बङ्गलामें भेद है,

हिन्दी और उर्दूमें कहाँ ? हिन्दी और गुजरातीमें भेद है, हिन्दी और उर्दू में कहाँ ? देखिए—

| हिन्दी | उर्दू | बङ्गला | मराठी | गुजराती |
|---|---|---|---|---|
| मैंने खाया | मैंने खाया | आमि खेये छि | मी खाल्ल | में खांदुँ |
| मैं लाया | मैं लाया | आमि आनिये छि | मी आणले | हुँ लाव्यो |
| हम गये | हम गये | आमरा गिये छि | आम्ही गेले | अमे गया |

जिसे हमने हिन्दी कहना पसन्द किया है, उसीको श्री सुनीति बाबू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इन्डो-आर्यन ऐण्ड हिन्दी' में हिन्दुस्थानी भी कहा है। यह हिन्दुस्थानी, हिन्दुस्तानीसे पृथक् है। पहलेमें थ है, दूसरे में त। उन्होंने इस भाषाको एक लम्बा नाम दिया है—"का, में, पर, से, इस, उस, जिस, किस, ना, ता, आ, गा, भाषा।"

इस भाषाके बारेमें विचार करनेसे पहले उसकी कुछ विशेषताओं की ओर ध्यान देना चाहिए :—



( १ ) बोलनेवालोंकी संख्याकी दृष्टिसे यह संसार - भरमें तीसरे नम्बर पर है—चीनकी उत्तरी-बोली तथा अंग्रेज़ीका ही हिन्दीकी अपेक्षा पहला नम्बर है—शेष सभी भाषाओंसे हिन्दी बोलनेवालोंकी संख्या अधिक है।

( २ ) भारतीय एकता और राष्ट्रीयताकी यह जीती - जागती प्रतीक है।

( ३ ) इसे छूतछातका रोग नहीं है। इसने अपना शब्द-भण्डार अनेक जगहोंसे भरा है : संस्कृत शब्दावलीसे, प्राकृतसे। इनके अतिरिक्त फ़ारसी, अरबी, तुर्की, पोर्चुगीज़, अंग्रेज़ी, हीब्रू तथा यूनानी आदि भाषाओं के शब्द भी हैं।

( ४ ) हिन्दीमें नपे-तुले ढंगसे बात कही जासकती है।

( ५ ) हिन्दीकी वर्णमालाके स्वर और व्यञ्जन बड़े साफ़ हैं।

( ६ ) हिन्दीका व्याकरण बड़ाही सरल है। 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया' में हिन्दी व्याकरणके नियमोंने केवल एक पृष्ठ लिया है जबकि और भाषाओंने दो-तीन तथा चारतक पृष्ठ लिये हैं।

इतने गुण होतेहुए भी बहुत वर्षोंतक हमारे नेता अंग्रेज़ीके ही द्वारा देशका उद्धार करतेरहे हैं। हाँ, कोई-कोई दूर भी देखते थे। श्रीभूदेव मुकर्जीने सन् १८९२ से पहले लिखा था :—

"भारतवासीर चलित भाषागुलिर मध्ये हिन्दी-हिन्दुस्तानी-इ प्रधान, एवं मुसलमान-दिगेर कल्याणे उहा समस्त देशव्यापक। अतएव अनुमान करा जाइते पारेजे, उहाके अवलम्बन करिया-इ कानो दूरवर्ती भविष्यकाले समस्त भारतवर्षेर भाषा सम्मिलित थाकिवे।"

इस भाषाको कोई हिन्दी कहना चाहता है—जैसे मैं स्वयं। कोई उर्दू कहना चाहता है, और कोई हिन्दुस्तानी।

हिन्दी या हिन्दवी नाम उर्दू तथा हिन्दुस्तानी दोनों नामोंकी अपेक्षा प्राचीन है, और हिन्दी-भाषा ( शैली ) उर्दू भाषा ( शैली ) तथा हिन्दुस्तानी ( शैली ) की अपेक्षा प्राचीन।

जबसे इस चार - पाँच ज़िलोंकी मातृभाषा हिन्दीने राष्ट्रभाषा हिन्दीका रूप धारण किया है, हमारी यह हिन्दी दो - तीन परस्पर संघर्ष करनेवाली विचारधाराओंके बीचमें आपड़ी है। एक विचार है शुद्धिकरण का। दूसरा विचार है अर्बी - फ़ारसी भरणका। तीसरा विचार है संस्कृत तथा अर्बी-फ़ारसी दोनोंके एकसाथ बहिष्करणका।

पहले विचारकी ही चर्चा पहले करूँ। कुछ लोग चाहते रहे हैं कि हिन्दीको एकदम 'शुद्ध' बना दियाजाय, उसमेंसे अर्बी - फ़ारसी शब्द को ढूँढ - ढूँढकर निकालाजाय। मेरा निवेदन है कि न यह संभव है न वाञ्छनीय। कोई सरल-से-सरल वाक्य लीजिए—मैंने एक किताब मेज़पर रखी है। न किताब शुद्ध हिन्दी है, न मेज़ शुद्ध हिन्दी है। क्या आपने

कभी सोचा है कि आदमी, दोस्त, दुश्मन, ग़रीब, अमीर जैसे शब्दोंसे भी हाथ धोबैठेंगे ? हम नहीं चाहते हैं कि हमारे देशमें जो यह छूत-छातकी बीमारी है, उसका प्रभाव हमारी भाषातकपर पड़जाय। हमारी भाषामें काफ़ी शब्द बाहरके हैं, यह हमारेलिए कोई अनुतापका विषय नहीं है। अंग्रेज़ीमें फ्रेंच और लैटिनके ६० प्रतिशत शब्द कहेजाते हैं और फ़ारसी-अर्बीके ८० प्रतिशत।

दूसरी विचार-धाराके अनुयायी हिन्दी-लेखकों पर—देवनागरी लिपिमें हिन्दी-हिन्दुस्थानी लिखनेवालों पर—प्रायः यह इल्ज़ाम लगाते रहते हैं कि वह संस्कृतके शब्द ठूँस-ठूँसकर भरते जारहे हैं। संस्कृतके शब्दोंकी भारतीय भाषाओंमें अधिकता एक स्वाभाविक बात है। पिछले ३००० वर्षोंसे हमारी भाषाओंका जो विकास होता आया है, उसके अनुरूप है। सोलहवीं शताब्दीतकमें और मलिक मुहम्मद जायसीके पद्मावत तकमें वही भाषा है, जो तुलसीदासके रामचरित-मानसमें है। १८ वीं तथा १९ वीं शताब्दीमें ही कुछ लोगोंमें संस्कृतके शब्दोंसे बचकर हिन्दी में अरबी-फ़ारसी लादनेकी प्रवृत्ति आरम्भ हुई है। और आज तो यह हाल है कि हिन्दीपर संस्कृत-मयी होनेका दोष लगानेवाले ऐसी भाषा लिखरहे हैं कि सचमुच यह सोचना पड़ता है कि यह भाषा कितने लोगोंके कामकी है। 'अंजुमने तरक्किए उर्दू' के अख़बार 'हमारी ज़बान' की भाषाके कुछ नमूने देखिये।

हरिक हजाब उठ गया हरीमे मुमकनात का,
था ज़ानवे निगाहे दिलपर आइना हयात का।
खुला जो बाब मानवी सहीफ़ह नबात का,
तो राज़ फाश हो गया तमाम घास-पात का॥

अब बताइए इस छन्दमें 'घास-पात' छोड़कर और आपको क्या समझ आया ?

गद्यका एक नमूना लें—

"अगर आपकी यह बरमहल मसाई और बरवक्त अन्तबाह उर्दू वालोंके मौजूदा जमूद व तआतलको दूर और गफ़लत व बेहोशीसे खबरदार न करता तो ज़बान उर्दू तो फ़ना हो ही जाती, इसीके साथ-साथ हमारी तहज़ीब और तमद्दुन, मुआशरत और कल्चर इसकी इनफ़रादियत भी हिन्दीकी रोज़ अफ़ज़ों नशर और अशाअतके सैलाबमें खस ओ खाशाककी तरह बहजायें।"

क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि किसी भी विदेशी भाषाके अनुवादकी तरह इसका अनुवाद करनेकी आवश्यकता है ?

कुछ लोग शायद किसी हिन्दी पत्रसे एकाध कुछ ऐसे उद्धरण देकर जो उनकी रायमें संस्कृतमय हों, मुझे जवाब देना चाहें। मैं अनावश्यक संस्कृतमयी भाषासे बचता हूँ और बचना चाहता हूँ। मुझे डर लगा रहता है कि हम पण्डिताईके अधिक समीप पहुँचते-पहुँचते जनतासे कोसों दूर न होजायें, लेकिन तबभी हिन्दी-पत्रोंके संस्कृतमय भाषाके उद्धरण मेरी बातका उत्तर न होंगे, क्योंकि मैं यह मानकर ही चलता हूँ कि भारतीय भाषाओंका संस्कृत-प्राकृतसे जो सामीप्य है, वह अर्बी-फ़ार्सी या किसी अन्य विदेशी भाषासे हो नहीं सकता।

तीसरी विचार-धारा अपेक्षाकृत बहुत ही नयी है। उसका नामकरण है 'हिन्दुस्तानी'। वह हिन्दू-मुस्मिल पैक्टकी भाषा है—हिन्दू-मुस्लिम ऐक्यकी नहीं; एकदम बनावटी। उसका उद्देश्य है—ऐसी भाषा लिखने का प्रयत्न करना जिसमें न संस्कृतके शब्द हों न अर्बी-फ़ार्सीके, और जो दोनों लिपियोंमें लिखी जासके। उत्तर-भारतमें काफ़ी आर्य-समाजी साहित्य प्रचलित है, जो ठेठ हिन्दी है लेकिन उसे उर्दू लिपिमें लिखकर छापदिया है—यहाँतक कि आर्य-समाजकी संस्कृत सन्ध्याको भी। उर्दू लिपिमें लिखा होने मात्रसे क्या वह सारा साहित्य 'हिन्दुस्तानी' समझा

जायगा ? यदि नहीं तो इधर जो कुछ साहित्य पैदा होनेलगा है, जो ठेठ उर्दू है, लेकिन जिसे देवनागरी अक्षरोंमें भी छाप दियाजाता है वह कैसे हिन्दुस्तानी कहला सकता है ? मेरे एक आदरणीय मित्र हैं। अनुपस्थित व्यक्तिकी आलोचना करना शिष्टता नहीं। इसलिए मैं उनका नाम तक न लूँगा। उन्होंने एक किताब लिखी है जो देवनागरी अक्षरों तथा उर्दू-हरूफ़ दोनोंमें छपी है। मैंने उस किताबको हस्त-लिपिके रूपमें देखा। वह उर्दूमें लिखीगयी थी, और एक दिन उन्होंने मुझसे पूछा कि अब बताओ इसमें कहाँ-कहाँ कौन शब्द काटकर बदल दियेजायँ जिसमें यह देवनागरीमें भी छपसके। मैंने कहा मुझे यह अत्यन्त अस्वाभाविक मालूम होता है। इससे उर्दू शैलीका प्रवाह नष्ट होता है, और हिन्दीका तो आ ही नहीं सकता। तोभी हुआ वही जो वह चाहते थे। जहाँ-तहाँ कुछ शब्दों की जगह 'हिन्दी' शब्द लिख दियेगये और वह पुस्तक देवनागरी अक्षरों-में भी छपगयी।



एक और उदाहरण—

दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सभाने 'हिन्दुस्तानी' नामसे एक पुस्तक प्रकाशित की है। उसमें मौलाना अब्दुल कलाम आज़ादका उर्दूमें लिखा हुआ एक 'दीबाचा' है, जो देवनागरी अक्षरोंमें भी ज्यों-का-त्यों 'दीबाचा' ही है। दीबाचः शब्द फ़ार्सीका है, उसे फ़ार्सीमें जगह है और हिन्दुस्तान की उर्दूमें भी; लेकिन हिन्दुस्तान ही जिनकी जन्मभूमि है ऐसे ये दो शब्द-- 'प्रस्तावना' और 'भूमिका'— आप कृपया कहें कि अब कहाँ शरण ढूँढें ? हिन्दुस्तानमें तो अब उनको शरण मिलेगी नहीं, क्योंकि वह 'हिन्दुस्तानी' नहीं हैं !

और क्या यह 'न संस्कृत न अर्बी-फ़ारसी' भाषा लिखनेका प्रयत्न सफल होता है ? यदि आपको सारे साहित्यमें 'मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ' जैसे दो-दो शब्दोंके वाक्योंसे ही काम लेना हो तब बात दूसरी है, अन्यथा

आप ज़राभी गहराईमें उतरें तो आपको अपनी 'न संस्कृत न अर्बी-फ़ार्सी' वाली बात तुरन्त छोड़देनी होगी। मैं इस 'हिन्दुस्तानी' किताबसे ही, जो एकदम बच्चोंकेलिए लिखीगयी है, दो उदाहरण देता हूँ। एक जगह फुटनोट है—'मुज़क्कर मुवन्नसकी वजहसे इफ़आलमें जो फ़र्क़ पैदा होता है उस्ताद उसे समझाये और मश्क़ कराये।' हिन्दुस्तानी-आदर्शवादियोंने उसे देवनागरी अक्षरोंमें कैसे लिखा है: 'पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्गकी वजहसे क्रियाओंमें जो फ़र्क़ पैदा होता है, उस्ताद उसे समझाये और मश्क़ कराये।' दोनों लिपियोंमें लिखीजाने लायक़ एक भाषा बनानेके फेरमें देवनागरीमें भी 'कारण' न लिखकर 'वजह' लिखागया है, 'अभ्यास' न लिखकर 'मश्क़' लिखागया है, 'अध्यापक' न लिखकर 'उस्ताद' लिखागया है—मानो ये शब्द पहले सब शब्दोंकी अपेक्षा सरल हों, आमफ़हम हों! लेकिन तबभी क्या दोनों लिपियोंमें ही भाषा लिखी जासकी? देवनागरीमें 'क्रियाओं' है, उर्दूमें 'इफ़आल' है—'फ़ेल' का बहुवचन 'फ़ेलों' होजाता, लेकिन तब तो वह हिन्दी-व्याकरणके अनुसार होता! देवनागरीमें 'पुल्लिङ्ग' है तो उर्दूमें 'मुज़क्कर' है। देवनागरीमें 'स्त्रीलिङ्ग' है तो उर्दूमें 'मुवन्नस' है। दूसरा उदाहरण लें। पृष्ठ १४ पर—"मुतकल्लम-हाज़िर-ग़ायब हालतोंकी मश्क़ फ़ेले-हालके मुज़क्कर और मुवन्नसकी सूरतोंमें करादीजाय।" दोनों लिपियों में एकही भाषा लिखनेके इच्छुकोंको देवनागरीमें इसे यूँ लिखना पड़ा है—'उत्तम और मध्यम पुरुषकी मश्क़ वर्तमान कालके पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्गके रूपोंमें करादीजाय।' दोनों वाक्योंमें एक 'मश्क़' शब्दको छोड़कर कौनसा विशेष शब्द समान है? यदि हम 'अभ्यास' की बजाय इस 'मश्क़' शब्दको ही अपनी भाषामें जगह दें और हिन्दुस्तानीकी खातिर 'अभ्यास' को देशनिकाला भी देदें तब भी क्या इससे वह हिन्दी 'हिन्दुस्तानी' होजाती है?

अभी-अभी दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सभाके १२ वें, १३ वें पदवी-दानके अवसरपर जनाब सय्यद अब्दुल्ला ब्रेलवी साहबने एक

तक़रीर फ़रमाई है। उसमें आपने दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सभाको सलाह दी है कि वह अपना नाम 'हिन्दी-प्रचार सभा' न रखकर 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' में तबदील करदें। आप फ़रमाते हैं: 'हिन्दी नामसे पैदा होनेवाले भ्रमको हटानेकेलिए मैं अपनी अपीलपर ज़ोर दूँगा, खास करके इसलिए कि मुझे पूरा यक़ीन है कि इस तबादलेसे मुसलमानोंके मनपर बड़ा अच्छा असर होगा।' कुछ लोग कहा करते हैं कि नाममें क्या रक्खा है, लेकिन ब्रेलवी साहब नामके तबादलेसे ही मुसलमानोंके मनपर बड़ा अच्छा असर पैदा करनेकी उम्मीद करते हैं। आपने अपनी तक़रीरके आरम्भमें फ़रमाया है कि क़ौमी ज़बानको उसके जो तीन नाम मिले हैं—हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी—वे तीनों मुसलमानोंके दियेहुए हैं। यदि यह बात ठीक है तो 'हिन्दुस्तानी' नाममें वह कौनसी खासियत है जिसकी वजहसे मुसलमान भाई 'हिन्दी' और 'उर्दू' दोनों नामोंपर उसे तरजीह देंगे? आज आप मुसलमानोंपर 'अच्छा असर पड़ेगा' की बात कहकर राष्ट्रभाषा को 'हिन्दुस्तानी' ही कहनेकी सलाह देरहे हैं, कल आप उसे उर्दू ही कहने की सलाह भी दे ही सकते हैं। १६४२ में गाँधीजीने जब 'हिन्दुस्तानी-सभा' की नींव डाली तब उसके ३८ बुनियादी-मेम्बरोंमें कितने मुसलमान भाई मेम्बर बने थे? स्वयं ब्रेलवी साहब तो खैर उसमें थे ही नहीं, क़सम खानेकेलिए तीन नाम दिखायी देते हैं लेकिन ऐसे जिनमेंसे कोईभी भाषा सम्बन्धी सेवाओंकेलिए प्रसिद्ध नहीं—न आज़ाद हैं, न ज़ाकिरहुसेन हैं, न मौलाना अब्दुलहक़ हैं।

क्षमा कीजिए यह 'हिन्दुस्तानी' आन्दोलन हमारे मान्य राजनीतिक नेताओंकी सूझ है और किसी राजनीतिक आवश्यकताका ही परिणाम भी। आज वे सीखचोंके पीछे हैं। हमारे मुँह बन्द हैं और रहने चाहिए! लेकिन तबभी हम इतना तो निवेदन कर ही सकते हैं कि शर्तोंपर आश्रित एकता—बनावटी एकता—स्थायी नहीं होती।

सारनाथ (बनारस) में भारतसे बाहरके भी आदमी रहतेरहे हैं। मैंने देखा कि रेडियोकी भाषामें अनेक उर्दू शब्दोंकी भरमार सिंहल-वासियों तथा स्यामवासियोंकेलिए कठिनाई पेश करतीरही है और संस्कृत शब्दोंकी प्रचुरता आसानी। अंग्रेज़ी शब्द 'इकॅनॉमिक्स्' के 'सम्पत्ति-शास्त्र' या 'अर्थ-शास्त्र' अनुवादको लगभग सभी भारतीय ही नहीं, भारतके बाहर सिंहल-स्यामतकके वासी समझते दिखायी देते हैं और 'इल्मे इक्तसादियात' को भारतमें भी कुछ अर्बी-फ़ार्सी पढ़े-लिखे ही समझें तो समझें।

स्याम और सिंहलमें जो नये कोष बनरहे हैं उनमें सब पारिभाषिक शब्द संस्कृतसे लिये जारहे हैं। अब क्या भारतमें ही संस्कृतका बहिष्कार होगा? लेकिन यह सारी हमारी अपनी घरकी आलोचना है—एक क्षेत्रमें काम करनेवाले भाइयोंका रगड़ा-झगड़ा। हम किसीसे भी, कुछभी शिकायत करते हैं तो तभी जब उससे सम्बन्ध ही नहीं, कुछ प्रेम भी होता है। इसलिए मैं आपको फिर एकबार स्मरण दिलादेना चाहता हूँ कि ऊपर मैंने तीनों विचारधाराओंके बारेमें जोकुछ भी कहा, उसका यह मतलब नहीं कि हमें उनसे कुछ लेना-देना नहीं। सभी विचारधाराओं द्वारा अपने-अपने ढंगपर उसी एक भाषाका विचार-प्रचार होरहा है, जिसका लम्बा नामकरण आपको ऊपर सुनाचुका हूँ—'का, में, पर, से, इस, उस, जिस, किस, ना, ता, आ, गा, भाषा।'

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि पिछली दस परीक्षाओं में आपके विद्यापीठसे ही दस हज़ारसे भी अधिक विद्यार्थी परीक्षाओंमें सम्मिलित होचुके हैं। आपके विद्यापीठका परिवार कितना बड़ा है! तोभी ज़रा सोचिए! इंग्लैण्डमें आपको कोई इङ्गलिश यूनिवर्सिटी नहीं मिलेगी। वहाँ ऑक्सफ़ोर्ड है, कैम्ब्रिज है: अपने यहाँ जैसे इलाहाबाद है और लखनऊ है। लेकिन वहाँ इङ्गलिश यूनिवर्सिटी नहीं—इङ्गलैण्डमें इङ्गलिश यूनिवर्सिटीका क्या काम! यहाँ हमें हिन्दुस्तानमें हिन्दी-विद्यापीठ खोलने पड़ते

हैं, जो बात दूसरे देशोंकेलिए इतनी स्वाभाविक है कि उन्हें उसका नामोल्लेख करने तककी आवश्यकता नहीं पड़ती, वही बात हमारेलिए आज कैसी प्रयत्न-साध्य साधना बनगयी है !

लेकिन, आप उतना ही क्यों सोचें—हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग-द्वारा जो परीक्षाएँ लीजाती हैं, उनमें जो हज़ारों परीक्षार्थी परीक्षा देते हैं वह सब भी तो आप ही के सहधर्मी हैं। और क्या मैं आपको इस समय उन परीक्षार्थियोंकी याद नहीं दिला सकता जो 'राष्ट्रभाषा - प्रचार समिति' वर्धा - द्वारा लीजानेवाली परीक्षाओंमें पिछले सात वर्षोंमें ही एक लाखसे भी अधिक संख्यामें सम्मिलित होचुके हैं। मैं चाहूँगा कि आप अपने सुदूर दक्षिणके उन भाई - बहनोंको भी न भूलें जो दक्षिण - भारत हिन्दी-प्रचार सभा - द्वारा लीजानेवाली परीक्षाओंमें सम्मिलित हुए हैं और होते हैं। अहिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तोंमें हिन्दी-प्रचारका श्रीगणेश 'दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा' द्वारा ही हुआ है और मुझे यह कहते प्रसन्नता होती है कि पिछले २५ वर्षमें 'दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा' का कार्य दक्षिणकेलिए ऊपरसे लादीगयी कोई चीज़ नहीं रहगया है, वह वहाँकी अपनी चीज़ है। दक्षिणके १२०० हिन्दी-सेवकोंमें उत्तर-भारतके हिन्दी-सेवक एक दर्जनसे अधिक नहीं हैं।

यह तो हिन्दीकी सेवा करनेवाली दो-तीन प्रसिद्ध संस्थाएँ हैं, और इनकी परीक्षाएँ ही भाषा तथा साहित्यके प्रचारका एकमात्र साधन नहीं हैं। इन संस्थाओंने अपने - अपने पत्र - पत्रिकाओं, साहित्य - सम्मेलनों तथा साहित्यके प्रकाशन-द्वारा हिन्दीकी जो सेवा की है—यह कहना कठिन है कि वह परीक्षाओंके संगठनकी अपेक्षा किसी तरह भी कम महत्व रखती है!

इनके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य सम्मेलनसे सम्बन्धित और असम्बन्धित न जाने कितनी दूसरी और संस्थाएँ हिन्दीकी सेवामें लगीहुई हैं। भारतवर्षके सभी विश्वविद्यालयों-द्वारा हिन्दीका कितना प्रचार और प्रसार

होरहा है ! गुरुकुल काङ्गड़ी आदि ग़ैरसरकारी विश्वविद्यालयों - द्वारा तो विशेष रूप से !

मैंने एकसे अधिक बार निवेदन किया कि मैं स्वयं तो उन लोगों मेंसे हूँ जो लिपिके मामलेमें देवनागरीकी ही ओर झुके हैं और भाषाके मामलेमें हिन्दी ही की ओर; लेकिन तबभी मैं उन सब प्रयत्नोंकी सराहना ही नहीं, पूजा करता हूँ, जो हमारे देशकी किसी भी भाषाको ऊँचीसे ऊँची शिक्षाका माध्यम बनानेकेलिए हुए हैं—कर्वे यूनिवर्सिटीमें मराठी ही शिक्षा का माध्यम है और उस्मानिया यूनिवर्सिटीमें उर्दू। काश कि काशीके हिन्दू-विश्वविद्यालयके बारेमें भी हम यह कहसकते कि वहाँ ऊँची-से-ऊँची शिक्षा हिन्दी-माध्यम द्वारा दीजाती है।

कर्वे यूनिवर्सिटीकी 'भारतीय महिला विद्यापीठ' की बातसे मेरा ध्यान एक और दिशामें आकर्षित होगया। आप हिन्दीमें अभी - अभी उठी एक नयी विचारधारासे परिचित होंगे। उसके समर्थक हिन्दीको केवल 'राष्ट्र-भाषा' के रूपमें देखना चाहते हैं—'राष्ट्र-भाषा' शब्दसे उनका अपना अभिप्राय विशेष है—और जहाँतक उसके ऊँची - से - ऊँची शिक्षाका माध्यम बनानेकी बात है, वह उन्हें लगभग वैसीही जँचती है जैसी हमें आजदिन अंग्रेज़ी। वे चाहते हैं कि ऊँची - से - ऊँची शिक्षा मातृभाषाओं में ही दीजाय। इसके ज़ोरदार प्रस्तावक हैं महापण्डित राहुल सांकृत्यायन। अभी हालमें ही उन्होंने 'मातृभाषाओंका प्रश्न' शीर्षक एक लेख लिखा; जिसे हिन्दीके कई पत्रोंने छापा है। उसमें वह कहते हैं कि जिस प्रकार रूस में जो बोलियाँ कलतक लिखी तक न जाती थीं आज वह ऊँची-से-ऊँची शिक्षाका माध्यम बनगयी हैं, उसी प्रकार भारतमें भी भोजपुरी, मैथिली आदि भाषा - भाषियोंकी शिक्षाका माध्यम भोजपुरी, मैथिली आदि मातृ-भाषाएँ होना चाहिए। आपमेंसे शायद कोई जानना चाहें कि यह भोज-पुरी और मैथिली क्या है ? इस समय क्या उत्तर दूँ ? इतना ही कहसकता

हूँ कि भोजपुरी राजेन्द्र बाबूकी मातृभाषा है और मैथिली प्रयाग-विश्वविद्यालयके वाइस चान्सलर हमारे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके कार्याध्यक्ष-सभापति पण्डित अमरनाथ झाकी।

जहाँ काशीके हिन्दू-विश्वविद्यालय तकमें आजतक हिन्दी इंटरमीजिएट ( आइ. ए ) से आगेतक शिक्षाके माध्यमके रूपमें नहीं बढ़ सकी, वहाँ काशीके आस - पास बोली जानेवाली काशिकाको शिक्षाका माध्यम बनानेकी बात सचमुच एक पागलपन मालूम देती है। आजका पागलपन कलकी बुद्धिमानी होसकती है। आज हमें इसके विषयमें कुछ नहीं कहना है, लेकिन हम समझते हैं कि रूसमें जोकुछ भी सम्भव हुआ वह वहाँकी जन-क्रान्तिकी उपज है और उसके बिना हमारे देशमें शायद अभी सम्भव नहीं। हमें सावधान रहना चाहिए कि मातृभाषाओं और राष्ट्रभाषाके विरोधकी चर्चा कहीं हमपर विदेशी भाषाके आधिपत्यकी जड़ों को—जो आज बहुतकुछ हिलगयी हैं—फिर पूर्ववत् न जमादे।

मैं शायद दूसरी ओर चलागया। विश्व - विद्यालयोंके बाद राष्ट्रभाषा-प्रचारमें जो दो बड़ी सहायक संस्थाएँ हैं, वह रेडियो और सिनेमा हैं। कुछ समय पहिले रेडियोमें भाषाको 'हिन्दुस्तानी' बनानेके नामपर उससे काफ़ी अनुचित छेड़-छाड़ की जातीरही है। इधर ऐसा लगता है कि उसकी नीति हिन्दीको 'हिन्दी' और उर्दूको 'उर्दू' बना रहनेदेनेकी होगई है; ठीक वही जो हिन्दुस्तानी ऐकैडेमीकी। 'उर्दू' पर सरकारी कृपा अब उर्दूके अधिक प्रोग्रामोंके रूपमें प्रकट होती है। रही सिनेमाकी बात, उसकी भाषापर तो न जाने किसका कन्ट्रोल है? भाषासे अधिक उसकी जिस चीज़ पर कन्ट्रोल है, वह हम सब जानते हैं दूसरी ही है। जो भी हो, सिनेमा आजदिन हिन्दी-हिन्दुस्तानी प्रचारका ज़बर्दस्त साधन है। अपने सारनाथ में ही मैंने बर्मी लड़कोंको हिन्दी गीत गाते सुना है—सब सिनेमाके सीखेहुए और हमारे आदरणीय गीतकारोंके ही रचे हुए! बधाई!!

राष्ट्रभाषाके प्रचारमें जिसे कुछ लोग आजकल लिंगुआफ्रैंका कहा करते हैं—कहना ही हो तो हम उसे लिंगुआ-इन्डिका क्यों न कहें ?—उत्तर भारतके उन हज़ारों साधुओं तथा यात्रियोंका हाथ है जिन्होंने इसे भारत के चार खूँटमें फैलादिया है ।

और हाँ, उत्तर भारतके उन हज़ारों नौकरों - चाकरोंका भी, जो बम्बई तथा कलकत्ता जैसे बड़े - बड़े शहरोंमें मध्य-श्रेणीके लोगोंके घरोंमें नौकरी करते हैं । अगनित मराठियों, बङ्गालियों तथा गुजरातियोंके हिन्दी गुरु शायद यही हैं ।

मैं इन सभी राष्ट्रभाषा-प्रचारकोंके सामने नत - मस्तक होता हूँ ।

सज्जनो ! काफ़ी समय लिया । दीक्षान्त - भाषणमें, और जब वह किसी पीत-वस्त्रधारी भिक्षुका हो, तो शायद दो-एक ऐसी बातोंसे ही समाप्त होना चाहिए जिन्हें मैं और आप अपनी जीवन - नौकाकी लग्गीके रूपमें काममें लासकें । मुझे उपनिषद्-कालके ऋषियोंका दीक्षान्त भाषण संसार के वाङ्मयमें एक अमूल्य रत्न लगता है । उसे सुनें—

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।

सत्य बोलनेकी अपेक्षा सत्य बोलनेका उपदेश देना सरल काम है । उसका ही मैं भी स्मरण करारहा हूँ । भगवान् बुद्धने जो अन्त समयमें भिक्षुओंको कहा था वह भी याद आरहा है—

'अप्पमादेन सम्पादेथ'

आलस्य - रहित होकर प्रयत्न करो ।

सातवाँ - आठवाँ - नवाँ - दसवाँ पदवीदान समारम्भ
गुरुवार, २७ जनवरी १६४४

---

# राष्ट्रभाषा

बहनो और भाइयो,

मुझे आपके निकट होनेका यह अवसर देनेकेलिए मैं विद्यापीठ के अधिकारियोंका आभार मानता हूँ, लेकिन उनके चुनावको बधाई नहीं देसकता। अव्वल तो कहाँ दिल्ली, कहाँ बम्बई! दूसरे, मेरी अपात्रता भी स्पष्ट है। आपकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है, फिरभी हिन्दीमें आपने अपनी योग्यता प्रमाणित की है। इस तरह आप सभी कम-से-कम दो भारतीय भाषाएँ तो जानते ही हैं। और मैं हूँ कि हिन्दीके सिवाय कुछभी नहीं जानता। तिसपर हिन्दीकी योग्यताका भी कोई प्रमाणपत्र मेरे पास नहीं है।

फिरभी अगर मैं आगया तो बहुत-कुछ इस कारण कि हिन्दी-भाषीकी हैसियतसे मैं आप लोगोंके प्रति अपनी कृतज्ञता जतलानेका अवसर नहीं खोना चाहता था। मैं मानता हूँ कि हिन्दीके राष्ट्रभाषा होनेके साथ दक्षिण-भारतका ऋण उत्तर-भारतपर चढ़ता जारहा है। आप लोगोंपर उस कारण अतिरिक्त श्रमका तक़ाज़ा पड़ा है। आप लोग स्वेच्छासे और खूबीसे उसे उठारहे हैं, यह इस समारम्भसे ही प्रकट है। इसका मैं हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ। मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि उत्तर-भारत उस ऋणको चुका नहीं रहा है। हिन्दीका राष्ट्रभाषा होना हिन्दी वालोंकेलिए गर्वकी बात नहीं है, दायित्वकी बात है। वे उसकी क़ीमत देनेकेलिए प्रान्तीय-भाषाएँ क्यों न सीखनेको उद्यत हों? हिन्दीवाले आत्म तुष्ट होकर बैठेंगे तो हिन्दीका राष्ट्रभाषा होना उनके हक़में लाभकी बात नहीं रहजायगी।

पर—हिन्दीको राष्ट्रभाषा कहते विनय और विवेक ज़रूरी है। विनय इसलिए कि हम भाषाओंकी ऊँच-नीच न माननेलगें। न किसीको घटबढ़ कर कहसकते हैं। लोक जीवनकी आवश्यकताके अनुसार भाषाएँ बनती हैं। मानव - जीवनके ऐक्य—विकासमें सहायक होनेकेलिए वे हैं। इसी बुद्धिसे किसी भाषाका संवर्द्धन या प्रचार होसकता है।

यह कहना ज़रूरी इसलिए हुआ; क्योंकि हिन्दीका प्रचार और उसका विरोध भी, कहीं - कहीं साम्प्रदायिक या प्रान्तीय भावनापर किया जारहा है। भाषाके पीछे ऐसी संकीर्ण भावना नहीं चाहिए। और यदि हिन्दी भाषा या नागरी लिपिके प्रचारमें वैसी प्रेरणा है तो यह खतरनाक है। इससे प्रतिक्रिया पैदा होती है और अहंता आजाती है।

इस विषयमें विवेक तो और भी आवश्यक है; क्योंकि राष्ट्रीय भाषा को लेकर काफ़ी खींचतान देखनेमें आती है। वह प्रश्न राजनैतिक धरातल पर देखाजाता है। फलतः उलझन भी बढ़ती दीखती है। मानो यह भी अधिकारके बीच-बँटावका सवाल हो। इस तरह संशय-सन्देहसे वातावरण क्षुब्ध होजाता है और साफ़ बात भी मैली मालूम होनेलगती है।

'राष्ट्र-भाषा हिन्दीसे क्या मतलब? हिन्दीका कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। उसमें भेद-पर-भेद हैं। उसका साहित्य ऊँचा नहीं है। परम्परा उसकी निश्चित नहीं है। हमारी बङ्गला है, हमारी मराठी है। उनका क्यों अधिकार राष्ट्र-भाषा होनेका नहीं है?'....'और उर्दू? हिन्दुस्तानकी असली ज़बान उर्दू है। देशकी कोई आम बोली होसकती है तो उर्दू।'..'और अगर हिन्दी राष्ट्र - भाषा मानी भी जासकती है तो हिन्दुस्तानी बनकर। लेकिन वह हिन्दुस्तानी क्या है?'....'और कहीं यह एक दिन हमारी अपनी मातृ - भाषाओंको ही फीका करडालनेकी ही तैयारी तो नहीं है? राष्ट्र-भाषाके नामपर यह हमपर नयी चीज़ लादी जारही है!'....'जी नहीं, हिन्दी हमारी है, हम उसे राष्ट्र-भाषा नहीं चाहते। देख तो रहे हैं कि राष्ट्र-

भाषा बनकर हिन्दुस्तानी बनी जारही है। और हिन्दुस्तानी उर्दूका ही तो दूसरा नाम है। ऐसे हिन्दी मटियामेट होजायगी। राष्ट्रीयताके नामपर हम हिन्दीको बिगड़ने न देंगे। हम हिन्दीका शुद्ध साहित्यिक रूप अक्षुण्ण रक्खेंगे। जब हमारी निजता वहाँ प्रधान है।'......

इत्यादि तरह-तरहकी बातें हैं। असलमें उस प्रश्नको राजनीतिक धरातलपर रखकर सुलझानेकी कोशिश करनेसे आपसी अविश्वासका सामना पहले होता है। तब सुलझाहट मुश्किल होजाती है। और प्रत्येक वर्गमें ऐसा आग्रह होजाता है कि राष्ट्रभाषा उसे तभी स्वीकार होगी कि जब वहाँ उसकी निजकी प्रधानता हो।

पर हमें जानना चाहिए कि विशेषाधिकारका यहाँ झगड़ा नहीं है, न तुलनाओंकेलिए मौक़ा है। परिस्थितिका तर्क ही यहाँ तर्क है। अन्य अपने मोहोंमें हमें नहीं फँसना चाहिए।

सवाल असलमें एक ही है। वह यह कि भारत राष्ट्र है या नहीं ? और उस लिहाज़से एक और अविभक्त होसकता है या नहीं ?

अगर भारत राष्ट्र नहीं तो सब झगड़ा निबटा! फिर तो हम अपने अपने घरमें बन्द होजासकते हैं।

लेकिन नहीं। प्रकृतिकी ओरसे ही मानो भारत एक और अविभाज्य सिरजागया है। भूगोल यह प्रमाणित करता है। भारत एक है, अखण्ड है, अविभाज्य है।

लेकिन अगर यह सही है तो भारत किस भाषाके आधारपर 'भारत एक' है ? क्या अंग्रेज़ीके आधारपर ? नहीं तो फिर किसके ?

हम पक्का मानलें कि अंग्रेज़ी हिन्दुस्तानको एक नहीं करेगी; बल्कि वह उसमें गहरी फाँक पैदा करदेगी। वह फल प्रत्यक्ष भी है। हमारे जीवनमें उससे उलझनें और गाँठें पड़गई हैं। नक़ली मूल्य पैदा होगये हैं। उससे हिन्दुस्तानके बीच एक विलायत ही बनआयी है। देहातके

भारत और शहरी विलायतमें खाई पड़ती जारही है। और यह निर्भ्रान्त ही है कि अंग्रेज़ी भारतकी एकताको खारही है और खाजायगी।

इस बातको समझ रहते हमें अच्छी तरह समझलेना चाहिए। जबतक हम अपने अंतर्प्रान्तीय व्यवहारको, अपनी राजनीतिको, अंग्रेज़ीके माध्यमसे चलानेकेलिए लाचार हैं, तबतक पराधीन भी रहनेको लाचार ही हैं। हमारी राजनीति और राष्ट्रनीति अंग्रेज़ीके आधारपर जबतक चलेगी तबतक उसमें असलियतकी कमी रहेगी। भारतका सच्चा मौलिक प्राण उसमें ध्वनित न होगा। वह भारतके सांस्कृतिक मेरु-दण्डसे विच्छिन्न ही रहेगी। और ऐसी राजनीति भारतको उन्नत और आज़ाद करनेमें समर्थ नहीं होसकेगी; क्योंकि किसी देशकी राजनीति उस देशकी धरतीसे टूटकर सच्ची नहीं होसकती।

इससे अँग्रेज़ीका अवलम्ब छोड़ेही निस्तारा है। अँग्रेज़ी भाषासे नाता तुड़ाना नहीं है, क्योंकि भाषाकी हैसियतसे अँग्रेज़ी ख़ूब समृद्ध है, और अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व बनानेकेलिए आज दिन वह उपयोगी भी बहुत है। लेकिन उसके सहारेकी आदत तो जल्दी-से-जल्दी हमें छोड़नी होगी।

पर संप्रति अवस्था क्या है ? अँग्रेज़ीके अभावमें हम जैसे असहाय होजाते हैं। प्रान्त-प्रान्तके लोग आपसमें अजनबी हो पड़ते हैं। मानों अँग्रेज़ी न हो तो वे भले पड़ोसी तक नहीं होसकते। यह शर्मकी बात है।

राष्ट्र-भाषाका सवाल सबसे पहले है। इस शर्मको मिटानेकी आवश्यकतासे जुड़ाहुआ है। उसपर वाद-विवादमें समय खोनेका अवसर कहाँ है ? हमें तो एक ऐसी बोली अपने बीच पालनी है जो हिन्दुस्तानके इस कोनेसे उस कोनेतक समझी जासके। यह एक अनिवार्यता है जिसे टाला नहीं जासकता। टालनेसे गति टलती है।

और स्थिति बतलाती है कि मौजूदा हालतमें वह भाषा हिन्दी होसकती है। हिन्दी कहो या हिन्दुस्तानी कहो। मन चाहे तो उर्दू कहलो।

घर-घाट और हाट-बाटमें चलनेवाली और उपजनेवाली आम जनताकी जो भाषा है, मतलब हमारा उसी भाषासे है।

उस भाषामें आज ऊँचा साहित्य नहीं है तो न सही, कल हो-जायगा। परम्परा उसकी निश्चित नहीं है, तो भी चिन्ता नहीं। शायद यही उसका सौभाग्य होजाय। राष्ट्र-भाषाके रूपमें उस भाषाकी स्वीकृति इस विशेषताके आधारपर है ही नहीं कि वह ऊँची है, या मधुर है, या कोमल है, या शास्त्रीय है। उसके पक्षमें तो यही एक सामान्य-विशेषता काफ़ी है कि वह जन-सामान्यमें व्यापक है। विद्वानकी या कुलीनकी न होकर वह अपढ़ किसान और मज़दूरकी भाषा है, तो इसमें लज्जाकी तनिक भी बात नहीं है। यह अच्छा ही है कि वह धरतीके अधिक निकट है। रोमांसके बलपर वह धरतीसे अधिक टूटी नहीं है। अनन्तर भारतके प्राणोंका समन्वित ऐक्य जब उसमें बढ़ेगा तब देखते-देखते उसमें उभार आजायगा और गाम्भीर्य भी आजायगा।

इस दृष्टिसे राष्ट्र-भाषाके प्रश्नका विचार करसकें तो बहुतेरी आशंकाएँ जो वातावरणको क्षुब्ध कररही हैं, अपने आप हल होजायेंगी। ऐसी राष्ट्रभाषाका विरोध किसीसे हो कैसे सकता है? किसी प्रान्तपर आरोप तो वह तब हो जब उसीके प्रति वह भिक्षार्थी न हो। लेकिन हिन्दीकी झोली खाली है। और जैसे कि सब प्रान्तोंसे वह माँगती है कि उसकी झोली भरें। दानसे किसीका धन कभी कम नहीं हुआ। ऐसे तो जो प्रान्त का वैभव है, वह राष्ट्रका भी वैभव हो रहेगा। प्रान्तीय साहित्योंमें जो उच्च है, वह समूचे भारतकी शोभा बढ़ाये, इसमें किसी प्रान्तको क्या खटका है?

इसी तरह उर्दूका भ्रम भी निर्मूल है। राष्ट्रभाषाका शब्दकोष क्यों आजकी प्रचलित उर्दू और हिन्दी साहित्यके एक भी शब्दको अपनेसे बाहर छोड़दे? हिन्दी या उर्दूकी पूरी लुग़त राष्ट्र-भाषाके कोषमें क्यों न समा

जावे ? और फिर भी उस कोषमें और प्रान्तीय भाषाओंसे दान प्राप्त करने की समाई क्यों न रहे ? इस प्रकारकी राष्ट्रभाषामें किसीके विरोधकी संभावना नहीं रहनी चाहिए।

अब यह बात कि हिन्दीकी साहित्यिक विशुद्धताका क्या होगा ? राष्ट्रभाषाके पदकेलिए पँचमेल बनानेकी कोशिशमें क्या वह असंस्कृत भी न बन जायगी ?

उत्तरमें कहूँगा कि हाँ यह खतरा तो है। लेकिन विकार स्थायी नहीं होगा। टिकेगा तो संस्कार ही स्थायी होकर टिक सकेगा। राष्ट्रभाषाके सवालको राजनीतिक तलपर देखकर उसका एक फ़ारमूला - बद्धरूपका आग्रह रखनेसे बेशक आज एक कृत्रिम भाषा - शैलीका भी प्रचलन दिखाई देता है। उस शैलीमें प्रवाह नहीं रहता और शक्ति भी कम होती जाती है। यह प्रदर्शन और सन्तोष भलेही उसमें रहता हो कि वहाँ उर्दू अथवा हिन्दीको समानुपातिक प्रतिनिधित्व दियागया है। लेकिन ये ऊपरी बातें हैं। ऐसा मेल और राष्ट्रीयता भी ऊपरी है। गहराईमें जाकर मेल दिखलानेकी ज़रूरत नहीं रहती। वहाँ अनमेल वैसे ही हल हुआ रहता है। इसलिए ऐसी कृत्रिमतासे क्षुब्ध होकर राष्ट्र - भाषाके विचारसे ही ऊब रहने की ज़रूरत किसीको नहीं है। ये तो चलताऊ मोह हैं। भाषाके स्वरूपमें उनसे फेरफार पड़नेका भय नहीं करना चाहिए। अर्थात् हिन्दी भाषाके स्वरूपको राष्ट्र - भावनाके संयोगसे कुछ उपादेय संस्कार भी प्राप्त होगा। वह तो स्थायी होगा और उसकेलिए हममें उच्चता अवश्य चाहिए। शेष सामयिक - विचारको भाषाका आन्तरिक बल स्वयं पराजित कर छोड़ेगा, ऐसा विश्वास करना चाहिए।

मैं विद्वान नहीं हूँ। भाषाकी उत्पत्तिका शास्त्रीय ब्यौरा नहीं दे सकूँगा। लेकिन मेरा अनुमान है कि हिन्दू भारत जब अपनी एकच्छत्रता खोचुका था और आपसी स्पर्धाकी क्रीड़ा - भूमि था, तब मुस्लिम - संपर्क

उसे प्राप्त हुआ। आरम्भमें वह सम्पर्क मानवीय यानी सांस्कृतिक था। पीछे वह राजनैतिक यानी आक्रमणके रूपमें हुआ। जो हो, उस दीर्घकालीन सम्पर्कके प्रतिफलमें ही खड़ीबोली यानी आधुनिक हिन्दी उपजी। इस सम्पर्कके परिणामस्वरूप भारतके प्राणोंमें चेतनाका उदय हुआ। और जबकि एक ओर राजनीतिक विजय-लिप्सा तथा जिज्ञासाके उत्तरमें सन्नद्ध हिन्दुत्व चेता, तब दूसरी ओर सांस्कृतिक विनिमयके परिणामस्वरूप सन्त-परम्परा भी जागी। खड़ीबोलीके विकासमें इन दोनों आन्दोलनोंकी देन है। उसमें चन्दबरदाई और भूषण हैं तो कबीर, नानक और जायसी भी हैं। दोनों किनारोंके बीच यानी शत्रुता और मित्रता द्वारा आर्य और इस्लामी संस्कृतियोंमें एक कालतक घात-प्रतिघात चलता रहा। जब ये दोनों संस्कृति-धाराएँ राजनीतिक प्रभुता और प्रभुत्वके तलपर आपसी सम्पर्कमें आयीं तब भाषाका स्वरूप मुख्यतासे वह बना जिसे लश्करी या उर्दू कहते हैं। मानसिक और हार्दिक तलपर जब दोनों संस्कृतियोंमें प्रीति-व्यवहार हुआ तब प्रधानतः वह भाषा उपजी जिसे हिन्दी कहते हैं।

इस प्रकार हिन्दी स्वभावतः मेलकी भाषा है। मैं यह मानता हूँ कि अँग्रेज़ी और अँग्रेज़ोंके आगमन-कालसे पहलेतक हिन्दी भाषा भारतकी समन्वित संस्कृतिका प्रतिनिधित्व करती रही। फिर अँग्रेज़ीके कब्ज़ेके साथ भारतका मौलिक ऐक्य टूटा, सो टूटा। तबसे अबतक राष्ट्रभाषाके मेरुदंड का अभाव ही रहा है। अँग्रेज़ीसे भारत नहीं पनपा, ब्रिटिश शासन ही मज़बूत हुआ। और उस कारणसे जो आनुषंगिक रूपमें भारतको हठात् तनिक एकता मिली थी, वह ब्रिटिश स्वार्थ-साधनमें काम आती रही।

पर अब धीमे-धीमे भारत राजनीतिक और भौगोलिकसे गहरे एक मौलिक ऐक्यकी आवश्यकताका अनुभव कररहा है। राष्ट्रभाषा आन्दोलन उसी अनुभूतिका प्रमाण है।

इस सम्बन्धमें मुझे अपनी यह प्रतीति भी प्रगट करदेनी चाहिए कि यद्यपि विलायती सभ्यताने भारत-जीवनमें खासा विकार उपस्थित किया है फिरभी उसकी भारतीयता एकदम खो नहीं गयी है। ढँकगयी हो; लेकिन भीतर चैतन्य उसमें है। और अब जबकि पाश्चात्य सभ्यता का दिवाला निकलता मालूम होता है, और दुनिया संकटके किनारे खड़ी है, तब संभव है कि भारतका मूल संदेश ही विश्वके पुनर्निर्माणमें सहायक हो। गाँधी उसी मूल भारतीयताके सन्देशके प्रतीक हैं।

भारतकी अपनी अलग ही समस्याएँ हैं। यहाँ कई धर्म हैं, जातियाँ हैं। भारतको हम एक महाद्वीप ही समझलें। उग्र राष्ट्रीयतामें भारत की समस्याओंका इलाज नहीं मिलेगा। वैसी राष्ट्रीयता तो आज पश्चिमी सभ्यताकेलिए भी राहु होरही है। सो भारतको अपनी मूल निष्ठाके प्रकाश में अपनी कठिनाइयोंका समाधान पाना है। उसमें पश्चिमके इस या उस देशकी नक़ल न होगी। वह सर्वथा भारतीय होगा जिससे घरमें सुरक्षा हो और बाहर भी अभय पहुँचे।



मैं मानता हूँ कि भारतके भाग्यमें विश्व-शान्तिके निमित्त ऐसी कोई देन देना बदा है।

उस विश्वासको हृदयमें लेकर हम राष्ट्रभाषा हिन्दीको अपनावें। तब वह भाषा सर्वाविरोधी होगी और राष्ट्रैक्यको सम्पन्न करेगी। वह भाषा भारतके भाग्य और संदेशको वहन करेगी।

इस लिहाज़से हमको मानना चाहिए कि हिन्दी सीखकर एक अतिरिक्त भाषा ही हम नहीं सीखते हैं; बल्कि भारतीयताके आदर्शको निकट लानेके मार्गपर हम बढ़ते हैं। हिन्दी सीखनेकी क़ीमत मेरे लेखे उसी दृष्टिमें है। भाषा-विषयक दृष्टि पर्याप्त नहीं है।

मैं तो जीवनके अनुभवमें कच्चा हूँ। पर आप सभी स्थिति-प्राप्त हैं। जीवनकी देहलीपर नहीं हैं, उसके मध्यमें हैं। आप सभी नागरिक

है। हिन्दीके विद्यार्थी यदि आप हुए हैं तो इसलिए नहीं कि उससे आपकी अपनी बाज़ार-दर बढ़नेकी आशा है। इन उपाधियोंसे आपका व्यावसायिक मूल्य बढ़नेवाला नहीं है। आपका वह हेतु भी उसमें नहीं होसकता। फिरभी व्यापक सम्पर्ककी सुविधा आपको हिन्दी-परिज्ञानसे होगी ही। उससे आपकी नागरिक क्षमता बढ़ेगी।

नागरिककी हैसियतसे आपका दृष्टिकोण भी केवल विद्यार्थीका न रहे। विद्यार्थीमें उपाधिके प्रति प्रयोजन-बुद्धि होसकती है। लेकिन आपके लिए हिन्दीकी उपाधि गौण है, उस हिन्दीका बोध ही मुख्य है। यानी हिन्दीकी जानकारीसे अपनी कमाईकी शक्ति बढ़ालेना आपका इष्ट नहीं है, इष्ट आपका उससे कुछ ऊँचा है। हिन्दी-परिज्ञानमें आपका प्रयोजन संकीर्ण नहीं है। इस भाँति व्यावसायिकसे ऊँचे यानी सांस्कृतिक हितमें उस परिज्ञानको उपयोगी बनानेका भार आपने स्वीकार किया है।

नागरिकका दायित्व बड़ा है। उसकी चिन्ता युवककी चिन्तासे आगे है। नये युवककी भाँति वह अपने गुज़ारेकी ही बात नहीं सोचता और उसकेलिए इधर-उधर हाथ-पैर मारनेकी आवश्यकता भी नहीं रखता। कुछ विशिष्ट कर्तव्य और अधिकारोंके बीच उसकी स्थिति निश्चित-सी होती है। वह समाजकी इकाई बनचुका होता है।

आप सभी इस या उस व्यवसायके सहारे समाजमें एक अमुक स्थान अपना रखते हैं। वहाँका अनुभव भी रखते हैं। अपने निजी अनुभवोंके प्रकाशमें जीवन-सम्बन्धी आप अपने निर्णय बनायेंगे। मुझे उस जीवनकी यात्राके विषयमें आपको नसीहत देनेका अधिकार नहीं है। उस बारेमें मैं कच्चा हूँ, आप आगे हैं।

जगत्में घटनेवाली घटनाओंको आप सुनते-पढ़ते ही हैं। उनका पृथक्करण भी आप करते होंगे। सब ओर विचारोंका संघर्ष-सा मचा है। उनमें अपने अनुसार हेयोपादेयकी छानबीन भी आप करते होंगे। उसके

बिना आज किसीको साँस लेना भी मुश्किल है। अखबारों और किताबों से छुटकारा कहाँ? उनसे बुद्धिमें विलोड़न मचारहता है। अनेक धर्म हैं, अनेक दर्शन, अनेक आइडियॉलॉजी, अनेक दल, किसकी कही सुनें, किसकी कही करें।

इस परेशानीमें एककी बुद्धि दूसरेका काम नहीं देसकती। सबको अपने भीतरसे अपनेलिए स्थिर बनाना होगा। मैं तो यही कहसकता हूँ कि इस घमासानमें नागरिकको अपनी एक ऐसी निष्ठा पालेनी होगी जो उसे अडिग रक्खे।

लोकमत अपूर्वशक्ति है। क्या डिमॉक्रेसी और क्या डिक्टेटर-शिप, दोनों लोकमतके ताबे हैं। डिक्टेटर लोकमतका प्रार्थी है। डिमॉक्रेसी तो लोकतन्त्र है ही। हमको ध्यान रखना चाहिए कि एक-एक नागरिक लोकमतका निर्माण करता है। लोकमतमें यदि विकार है तो उसके दायित्वसे कोई मुक्त नहीं। नागरिकका ज़िम्मा है कि वह लोक-जीवनकी स्वच्छताका ख्याल रक्खे। वह लोकमतकी ओरसे उदासीन नहीं होसकेगा। उसके निर्माणमें संस्कारशील योग देना हरेकका धर्म है।

मैं मानता हूँ कि आज हमारे लोक-जीवनमें बहुतेरे कृत्रिम मूल्य प्रभुता पाएहुए हैं। हम झूठे बाँटसे तौलने और ग़लत मापनेके आदी होते जारहे हैं। पर हरेक नागरिकको देखना लाज़िम है कि झूठे बाँट बाज़ारमें न मिलें और सही माप ही प्रतिष्ठा पावें। इस लिहाज़से एक मौलिक मूल्यांतरीकरणकी मैं आवश्यकता मानता हूँ। इसको दृष्टिकी क्रान्ति भी कह सकते हैं। यद्यपि 'क्रान्ति' शब्द वैज्ञानिक नहीं है। और मैं उसे बिरले ही प्रयोगमें लाना ठीक समझता हूँ।

यह सब मैं इसलिए कहरहा हूँ कि आप लोगोंने विलायतकी भारी-भारी डिगरियोंकी जगह इन हिन्दीकी मामूली उपाधियोंको पानेका प्रयत्न बेहतर समझा है। किसीकी निगाहमें यह आपका भोलापन हो, लेकिन

मेरी निगाहमें यह दूरदर्शिता भी होसकती है। आपने ऐसा किया है, इसी-लिए मूल्य-क्रान्तिकी बात आपसे कहनेकी मुझे इच्छा होआयी। हाँ, अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ियतके कारण हिन्दुस्तानके जीवनमें असलियतकी काफ़ी कीमत घटगई है, नक़लियतकी कीमत ऊँची चढ़गई है। यह अनिष्ट है। अंग्रेजी भाषणकी विलक्षण योग्यताकी तुलनामें सीधा सादा कोई निस्वार्थ सेवा का काम मानवीय दृष्टिमें ऊँचा ठहरना चाहिए। मुझे आशा है कि आप लोगोंने हिन्दीके रास्तेको स्वीकार करके उस प्रकारके नकली मोहसे अपना नाता तोड़लिया है।

ज्ञान बाहरी वस्तु नहीं है। न वह अनुपयोगी वस्तु है। जो बाहरी है और अनुपयोगी है, वह ज्ञान नहीं। हमारे लोक-जीवनपर बहुत कुछ लदा है जो बाहरी है और अनुपयोगी है। नागरिकको देखना होगा कि वह लोकजीवन उन व्यर्थताओंसे स्वच्छ होताजाता है।

अंग्रेज़ीकी प्रभुता है, तब भी जो समय लगाकर हिन्दी सीखनेका आग्रह रखता है, उसको ये बातें कहना मुझे अत्यन्त सुसंगत जान पड़ता है। मैं मानना चाहता हूँ कि वह भारतके भविष्यका आवाहक है।

इन उपाधियोंकी प्रशंसामें मैं कुछ नहीं कहना चाहता। उपाधियाँ उपाधियाँ हैं। वे साहित्य-सम्मेलन-प्रयागकी होसकती थीं, या वर्धा केन्द्र की होसकती थीं। लेकिन मेरी कल्पना है कि आपकी लगन तो उपाधि की तात्कालिक कीमतपर है ही नहीं। आप तो जैसे बने, हिन्दी भाषाका ज्ञान पा लेना चाहते हैं। उसी दृष्टिसे मैंने यह इतना कहा है।

अन्तमें मैं आप सबका अभिवादन करता हूँ और धन्यवाद मानता हूँ।

प्रथम प्रमाणपत्र वितरणोत्सव
रविवार, २३ जुलाई १९३९

---

# संस्कृति : प्रगति : कर्तव्य

[ तारीख १५-५-१९४६ को हिन्दी-मित्रगोष्ठी, बम्बई हिन्दी-विद्यापीठकी 'मैसूर रियासत प्रचार-समिति' के जन्मोत्सव तथा उपाधिपत्र वितरण समारम्भके अवसरपर हिन्दीके तरुण लेखक, 'नया-साहित्य' के सम्पादक और विद्यापीठकी कार्यकारिणीके सदस्य श्रीयुत रमेशचन्द्र सिनहाका दिया हुआ भाषण ]

श्रीयुत अध्यक्षजी, और भद्रावतीके भाइयो,

यहाँ आमन्त्रित करके मुझे जो आदर आपने दिया है, उसकेलिए कृतज्ञ हूँ। हिन्दीसे मुझे प्रेम है, और अक्सर जब राजनैतिक और सामाजिक सेवाके जीवनकी शुष्कताओं और असुन्दरताओंसे मन खिन्न और विषादमय होउठता है तो मैं हिन्दी-साहित्यके शीतल और छायादार उद्यानमें खिसकजाता हूँ। फैलीहुई साम्प्रदायिकता और संकीर्णतासे विदग्ध हृदयको कबीरके दोहों और उलटबासियोंमें आशाका एक नया संदेश मिलता है। महाकवि तुलसीके मानव प्रेमकी गहरी और अपार स्रोतस्विनीमें जगके कलुषको हरलेनेकी अद्भुत क्षमता है। उचटे हुए मनको मीराकी विद्रोहात्मक तन्मयता, एकाग्रता और उसके मादक संगीतसे बहुत बल मिलता है। प्रेमचन्द, पन्त, निराला और महादेवीमें मानव-शक्ति के प्रति विश्वास-भावका जो आग्रह, और मनुष्य जातिके भविष्यके प्रति जो अपराजेय आस्था है, उससे थके-पैरोंको आगे बढ़नेकी निरन्तर प्रेरणा मिलती है। इसीलिए हिन्दीसे मुझे प्रेम है। और अवसर आता है तो उसके प्रचार और उन्नयनके कार्यमें योग देनेका लोभ असंवरणीय होउठता है।

किन्तु फिरभी मैं आपसे सच कहदूँ इस समय यहाँ आनेमें मैं हिच-किचाता था। कार्याधिक्यके कारण बम्बईसे दो-चार दिनकेलिए भी हिलना मुश्किल दीखता था, पर हिन्दीके प्रति और उससे भी अधिक भद्रावतीके हिन्दी-प्रेमी मज़दूर भाइयोंके प्रति मेरे आदर और स्नेहकी विजय हुई।

बम्बई-हिन्दी विद्यापीठके सुयोग्य मन्त्री मेरी इस कमज़ोरीको जानते थे। जब भी यहाँ आनेके सम्बन्धमें मैं आनाकानी करता तो वे आप भाइयोंकी, यहाँके लोहे, सीमेण्ट और काग़ज़के कारखानोंके मज़दूरों की, याद दिलाते और आनेका आग्रह करते। अन्तमें जैसा कि आप देखते हैं, मैं आपकी सेवामें उपस्थित हूँ।

वास्तवमें यहाँके मज़दूर भाइयोंका प्रेमही मुझे खींचलाया है। इसका कारण मेरा यह विश्वास है, कि इस देशमें—जैसा कि बाक़ी दुनिया में—शिक्षा और संस्कृतिकी परम्पराओंको आगे बढ़ानेकी, उन्हें परिष्कृत और उन्नत करनेकी क्षमता और सच्ची आकांक्षा केवल मज़दूर वर्गमें या जो मज़दूर वर्गके साथ हैं, उनके सहगामी और सहधर्मी हैं उनमें है। पूञ्जी-पति वर्गको, धनिक वर्गको, व्यापारिक बुद्धि और बाजार-कौशलके अति-रिक्त और किसी विद्याकी आवश्यकता नहीं। दूसरोंको लूटनेवालोंको, लाखों-करोड़ों आदमियोंकी गाढ़ी कमाईका शोषण करनेवालोंको, शिक्षा और संस्कृति जैसे पशुओंको मनुष्य बनानेवाले ऐसे सद्गुणोंकी भला क्या दर-कार! इन चीज़ोंके प्रति तो उन्हीं लोगों और वर्गोंका राग अनुराग हो सकता है जो दुनियाको स्वर्गसा सुन्दर और उजली धूप-सा स्वच्छ और स्वास्थ्यकर बनाना चाहते हैं और जो दुनियामें वास्तविक भाईचारा, साम्य और स्वाधीनताकी स्थापना करनेकेलिये आकुल हैं। और यह विशेषता केवल आपही लोगों में—केवल मज़दूर वर्गमें पाई जाती है। यह अति-शयोक्ति नहीं है।

आप जानते हैं जर्मन पूञ्जीवादके फ़ासिस्टी शासक हिटलर और

गोयबेल्स कहा करते थे कि "कोई संस्कृतिका नाम लेता है तो मेरा हाथ अपने रिवाल्वरपर पहुँचजाता है।" जी हाँ, जिन शब्दोंके स्मरणमात्रसे आपका हृदय एक अनिर्वचनीय आनन्द और उल्लाससे मचल उठता है, उन्हींके उच्चारणसे इन सज्जनोंको अपनी पिस्तौलकी याद आजाती थी और वे मारनेको दौड़पड़ते थे। हाइने जर्मनीका कालिदास है लेकिन फ़ासिस्टी पूँजीपतियोंके राज्यमें उसके अमर काव्य-ग्रन्थोंकी होलियाँ जलाईजाती थीं! उनके पढ़नेवालोंको नज़रबंद कैम्पोंमें ठूँसकर मारडाला जाता था। यही हाल जापान और इटलीमें और च्यॉंगकाईशेकके चीनमें था। आज भी स्पेनमें जहाँ फ़ासिस्ट फ्रैंकोका कुशासन है—टाल्सटाय ऐसे विश्ववंद्य महाऋषिकी रचनाओंका पढ़ना और रखना ग़ैरक़ानूनी है।

आज आप चाहे जिस देशको लीजिये, साहित्य और संस्कृतिकी चिन्ता करनेवाले, उनके विकास और पुनर्जीवनकेलिए प्रयत्नशील वही लोग मिलेंगे जो वर्तमान विषम समाजको बदलकर नये स्वतन्त्र समाजकी रचना करनेकेलिए उत्कट अधीर हैं।

दूर जानेकी ज़रूरत नहीं है, अपने देशमें ही देखिये। प्रेमचन्द हमारे सबसे बड़े औपन्यासिक और कहानीकार थे। आप जानते हैं कि वह मज़दूरों, किसानोंके साथी थे और उनके संघर्षमें सहायक थे। पूँजीवादी सभ्यताको "महाजनी सभ्यता" कहकर उसे मिटानेकी आवश्यकता पर अपनी रचनाओंमें उन्होंने स्थान स्थानपर ज़ोर दिया है। हिन्दीके महान् कवि सुमित्रानन्दन पन्तको देखिये। वह मज़दूरों, किसानोंके गायक हैं। देशके उज्ज्वल भविष्यकी मशाल उन्हें मज़दूर वर्गके ही हाथमें दीखती है। 'ग्राम्या' के अपने प्रसिद्ध गीत 'राष्ट्रगान' में भारतके सच्चे प्रेमियोंको उन्होंने "श्रमजीवी" और "वर्गमुक्त हम श्रमिक कृषकजन" कहा है। "युगवाणी" ( पृष्ठ ४६ ) में मज़दूर ( श्रमजीवी ) के प्रति वह कहते हैं कि—

वह लोक क्रान्ति का अग्रदूत, वरवीर, जनादृत,
जन्म सभ्यता का उन्नायक, शासक, शासित।
चिर पवित्र वह भय अन्याय घृणा से पालित,
जीवन का शिल्पी, पावन श्रम से प्रक्षालित।

निरालाजीने आजसे २०-२२ वर्ष पहले 'जीर्णशीर्ण' किसानकी दुर्दशा देखकर 'विप्लव' के 'वीर' बादलोंका आह्वान किया था। और आज 'झींगुर' 'लकुई' 'महँगू' उनकी रचनाओंके नायक हैं।

व्यापक हिन्दी जगत्में आप नज़र दौड़ाजाइये। चाहे उपन्यासकार और कहानी-लेखक यशपाल हों, चाहे कविवर मैथिलीशरण गुप्त या महादेवीजी, चाहे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसे विद्वान्, चाहे डॉ० रामविलास शर्मा और प्रोफ़ेसर प्रकाशचन्द्र गुप्त ऐसे आलोचक और निबन्धकार—ये सब आपको मज़दूरोंकी तरफ़, मज़दूर-आन्दोलनके साथ मिलेंगे। उनकी प्रेरणाका स्रोत देशके मज़दूर, किसानों और उनके सैनिक पुत्रोंका बढ़ता हुआ क्रान्तिकारी आन्दोलन है।

यह संदेह-हीन बात है कि पूँजीवादियोंको इन चीज़ोंकी बिलकुल ज़रूरत नहीं है। सुन्दर, निर्भीक प्रकाशनोंको पूर्णतः दबानेमें अगर वे आज असमर्थ हैं तो विश्वास रखिये—मैं आपको चेतावनी देता हूँ कल वे और भी प्राणप्रणसे उसकी कुचेष्टा करेंगे। प्रेस और अखबार वे देश भरमें खरीदरहे हैं, उनपर एकछत्र अधिकार कायम करनेकी कोशिशें कररहे हैं। एकबार सिक्का जमजानेपर वे आपको केवल एकही तरहका साहित्य देंगे, देशके बाज़ारोंको केवल एकही तरहकी सस्ती पुस्तकों और पत्रोंसे पाटदेंगे, जिससे कि वे आपको हमेशा धोखा देते रहसकें। तब साहित्यिक और सांस्कृतिक उच्च प्रकाशनोंका स्थान गंदी, कामुकतापूर्ण किस्से कहानियोंकी पुस्तकें लेलेंगी।

इस साहित्यिक महामारीको केवल आप सबके प्रयत्न ही रोक-

सकेंगे। राष्ट्रीय जीवनके अन्य क्षेत्रोंकी तरह साहित्य और संस्कृतिके आँगनमें भी सफ़ाई और निर्माणका कार्यभार आपकेही कंधोंपर है। आप अपने को इस कार्य-सम्पादनके निमित्त जितना योग्य बनायेंगे, सफलता उतनी ही शीघ्र हमारे महान् देशके गौरव मुकुटको वरण करेगी।

विद्यापीठके उद्देश्यों, विधान और कार्यप्रणालीसे जहाँतक मैं समझा हूँ आपके हिन्दी प्रेम, प्रचार, और शिक्षणके पीछे यही उदात्त भावना काम कररही है। विद्यापीठके विधानमें स्पष्ट रूपसे कहागया है कि "हिन्दी-प्रचारके द्वारा हम अपने देशवासियोंको मानव-अधिकारोंके प्रति सचेत बनाना चाहते हैं, हम उन्हें जगाना चाहते हैं।" (देखिये उद्देश्य-धारा ५)

मानवी अधिकारोंके प्रति सचेत करना, उन अधिकारोंकी प्राप्ति और उपभोगकेलिए देशवासियोंको सचेष्ट और सक्रिय करना, विद्यापीठके प्रचारके पीछे यही मूलतत्त्व छिपाहुआ है। प्रत्येक साहित्यिक, सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी आन्दोलनके पीछे यही तत्व रहता है। यदि साहित्य और संस्कृति जीवनको सँवारने, सुन्दर, स्वस्थ, और आनन्दमय बनानेके साधन नहीं हैं, तो कुछ नहीं है। स्वतन्त्र, सुखी मनुष्यके विरह आनन्दोल्लास और बन्धुत्वकी रचनामें योग देना मनुष्यको अपने भाग्यका कर्ता-धर्ता और नियामक बनानेकेलिए ज्ञान और शक्तिसे सम्पन्न करना यही साहित्य और संस्कृतिका अभिप्राय, आधार और प्रेरणा होती है।

आपके हिन्दी पठन-पाठन और प्रचारका भी यही अभिप्राय है, और होना चाहिये।

अगर आप हिन्दी भाषा और साहित्यके पिछले लगभग छह-सौ वर्षोंके इतिहासपर दृष्टि डालें, तो आप देखेंगे कि हमारी इस प्रिय भाषा को तो यह कार्य— यह उपयुक्त कार्य करनेका विशेष गौरव प्राप्त है। चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दीमें यदि महात्मा कबीरने जात-पाँतकी

रूढ़ियोंमें ग्रस्त और पीड़ित भारतीय जनताको विद्रोह और एकताका संदेश दिया था, तो सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दीमें तुलसीदासने घोषणा की थी कि "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं" और दुखी किसानोंका पक्ष लेकर सामंती राजाओंको "कूकर" अर्थात् कुत्ता कहा था और उनके "ठाठ" उलटनेका भयङ्कर शाप दिया। उन्नीसवीं शताब्दीमें भारतेन्दु युगके साहित्यकारों पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बद्रीनारायण, श्रीराधाचरण गोस्वामी, और इन सबसे अधिक स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने अपने पत्रों (हरिश्चन्द्र मैगेज़ीन हिन्दी प्रदीप, बालबोधिनी, कवि-वचन-सुधा आदि) नाटकों, कविताओं, पहेलियों, लेखों, और पैम्फलेटोंके द्वारा देश-वासियों को कोंच-कोंचकर मातृभूमिकी दासताके विरुद्ध जगाया था और दूसरे शासकों और शोषकोंसे लोहा लेनेकी स्फूर्ति भरनेकी कोशिश की थी।

भारत रक्षा - कानूनसे भी कठिन क़ानूनसे जकड़े उस समयके समाजसे पहेली बुझाते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने पूछा था—

"भीतर - भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन, मन, धन, मूसै।
जाहिर बातन में, अति तेज, क्यों सखि साजन, नहिं अंग्रेज़!"

'भारत-गीत' नामक प्रसिद्ध राष्ट्रीय काव्य-संग्रहमें पं० श्रीधर पाठकने भी इसी समय देश-प्रेमकी भावनासे ओतप्रोत रचनाएँ लिखी थीं। उसके बाद राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्तकी 'भारत-भारती' गूँजी, जो सम्भवतः आपने पढ़ी होगी। देशकी तत्कालीन विपन्नावस्थाके कारण और अव-सादमय चित्रणकी पृष्ठभूमिमें, देशके प्राचीन वैभवका वर्णन करके कविने हमारा कर्तव्य निर्देश किया। प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी, सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, यश-पाल आदिकी रचनाओंमें हमारी भाषा और साहित्यकी इसी ओजमयी परम्पराका प्रसार और विकास हुआ है।

वर्तमान हिन्दी-प्रचार आन्दोलनको देखिये तो आप पायेंगे कि

उसका जन्मभी राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलनकी कोखसे ही हुआ था। राष्ट्रीय आन्दोलनके साथ-साथ उसका भी क्षेत्र व्यापक हुआ।

भारतीय काँग्रेसकी नींव उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें (१८८५) में पड़ी थी, पर उसका प्रभाव बढ़ना शुरू हुआ बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षोंसे। हिन्दीकी राष्ट्रीय संस्थाएँ 'काशी नागरीप्रचारिणी सभा' (१८९३) और 'अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन'(१९१०) की उत्पत्ति देशके इसी जन-जागरण-कालमें हुई थी। राष्ट्रीय नव-जागरण के साथ - साथ हिन्दीकी भी व्यापकता बढ़ी। बल्कि इसे योंभी कहा जा सकता है कि, हिन्दी इस राष्ट्रीय नेत्रोन्मीलनके सन्देशकी वाहिका बनी। काँग्रेस और देश - भक्तिके सन्देशको दूर - दूरके पिछड़े और अज्ञानके अन्धकारमें डूबेहुए क्षेत्रोंतक उसने पहुँचाया। उसके स्पर्शसे लोगोंमें नव चेतना जागी।

आप देखेंगे कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके साथ सदैव ही काँग्रेसके बड़े नेताओंका सम्बन्ध रहा है। महात्माजी स्वयं उसके इन्दौर-अधिवेशन (१९१८) के अध्यक्ष रहचुके हैं। 'दक्षिण - भारत हिन्दी - प्रचार सभा' की भी नींव, जिसके सुयशसे आप भलीभाँति परिचित होंगे, साहित्य सम्मेलनके इसी अधिवेशनके बाद पड़ी थी। दक्षिण भारतमें हिन्दी प्रचार कार्यको महात्माजीने प्रेरित किया। १९१८ में इस सम्बन्धमें दक्षिणका दौराभी उन्होंने किया था। १९२७ तक यह प्रचार - कार्य हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयागकी देख - रेखमें चला और फिर उसी वर्ष दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभाकी स्थापना हुई। एक छोटेसे वट-बीजकी तरह फल फूल कर, सभाने आज एक शक्तिशाली दलदार - दरख्तका रूप और आकार धारण करलिया है।

इस हिन्दी - प्रचारके पीछे भी वही एकान्त उद्देश्य था—देशको जगाना, देशकी धरतीपर साँपकी तरह कुण्डली मारे बैठी अज्ञानताको

नष्ट करके, देशको एक करना और आगे बढ़ाना। इस प्रकार उत्तरसे दक्षिण तक और पूर्वसे पश्चिमतक देशके एक किनारेसे दूसरे किनारेतक देशप्रेम की भावना फैलानेका और पिछड़ीसे पिछड़ी हुई जातियोंको एक करनेका श्रेय हिन्दीको मिला। इसी सेवाके कारण वह राष्ट्र-भाषा कहलानेकी अधिकारिणी हुई है। आज हिन्दुस्तानके अधिकांश निवासी किसी न किसी रूपमें हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानीको बोल और समझलेते हैं।

यह दो-चार शब्द राष्ट्रभाषाके सम्बन्धमें कहदेना अप्रासंगिक न होगा। आप जानते हैं कि राष्ट्र-भाषाके प्रश्नको लेकर, जो कि वास्तवमें हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानीका प्रश्न बनगया है, आज कितना वाद-विवाद चलरहा है! 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के प्राण श्री पुरुषोत्तमदासजी टण्डन यदि केवल शुद्ध हिन्दीको राष्ट्र-भाषा मानते हैं, तो महात्मा गाँधी आदि अनेक नेता 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक हैं। वे चाहते हैं कि हिन्दी और उर्दू दोनों समान रूपसे राष्ट्रकी भाषाएँ बनें। उधर 'अंजुमने तरक्किये उर्दू' के सर्वस्व डॉ० अब्दुलहक़ साहबका कहना है कि उर्दू ही राष्ट्र-भाषा है—ऐतिहासिक दृष्टिसे भी और वास्तविकताकी दृष्टिसे भी। देशके हज़ारों-लाखों आदमी उनके भी साथ हैं।

इस समय तो हिन्दी और उर्दूका विवाद, बल्कि इसीमें हिन्दी और गांधीजीकी हिन्दुस्तानीके विवादको भी शामिल करलिया जासकता है—कटुताकी सीमातक पहुँचगया है। रेडियोकी भाषा या भाषाओंके सम्बन्ध में तनातनीकी तहमें भी यही विवाद काम कररहा है।

इस गर्म वातावरणमें हम आप ऐसे साधारण व्यक्तियोंकेलिए अपना मत निश्चित करना काफ़ी मुश्किल होजाता है। मुश्किल तो है लेकिन असम्भव नहीं। सचमुच हमें बहुत समझदारी और उदारतासे काम लेना है।

सच बात तो यह है कि जिसतरह आज करोड़ों देशवासी हिन्दी लिखते-पढ़ते हैं, हिन्दीके सूर, तुलसी, मीरापर जान न्योछावर करते हैं,

उसी तरह करोड़ों देशवासी उर्दू लिखते-पढ़ते हैं और हाली, ग़ालिब और इक़बालपर प्राण देते हैं। न हम हिन्दी-प्रेमी सूर, तुलसीको छोड़सकते हैं, न उर्दू-प्रेमी हाली, ग़ालिब और इक़बालसे मुँह मोड़सकते हैं।

वास्तविकता यह है कि हिन्दी और उर्दू कुछ अंशोंमें एक होते भी, एकही स्रोतसे उत्पन्न हुई होनेपर भी बहुत मानोंमें एक दूसरेसे भिन्न हैं। इनका साथ-साथ दो समानान्तर धाराओंकी तरह विकास हुआ है। यह ऐतिहासिक तथ्य है, जिससे इनकार नहीं किया जासकता। भाषाएँ व्यवहारके अलावा, विचारोंकी दार्शनिक और ऐतिहासिक परम्पराओंकी, व्यक्तियोंके समूहोंकी, संस्कृति - विशेषकी, वाहक हुआ करती हैं। हिन्दी और उर्दू भी दो भिन्न संस्कृतियोंकी वाहक हैं। हिन्दी और उर्दू भाषाओंके भेदके पीछे बहुत हदतक हिन्दू और मुस्लिम या इस्लामी संस्कृतियोंका भेद है। वह भेद हमारे और आपके यथार्थ जीवनमें मौजूद है, फिर भाषा या संस्कृतिके अन्य रूपोंमें उसे कैसे बरजोरी मिटाया जासकता है?

लेकिन हिन्दी और उर्दूकी दोनों धाराएँ चूँकि देशके जन-समूह के जीवनको छूतीहुई, उससे निःसृत होकर चलती हैं, और भारतीय जनता के जन-समूहमें बहुत-सी बातें आम या सामान्य भी हैं। इसलिए हिन्दी, उर्दू भाषाओंमें भी ऐसा बहुत-सा है, जो दोनों संस्कृतियों में समान रूपसे विद्यमान है। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियोंसे प्रभावित देशवासियोंके जीवन में जो चीज़ें सामान्य रूपसे मौजूद हैं, अलगसे भी उनका व्यक्तीकरण हिन्दुस्तानीके रूपमें होता है। भिन्न होतेहुए भी इन दोनों संस्कृतियोंमें पले भारतीय अभिन्न हैं और अभिन्न होतेहुए भी उनके वैयक्तिक और सामाजिक जीवनोंमें पर्याप्त भिन्नता है। हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी इन्हीं विभिन्नताओं और अभिन्नताकी सूचक हैं।

अगर हम प्रश्नपर इस दृष्टिसे विचार करें तो आजकी तकरारकेलिए जगह नहीं रहजायगी। झगड़े क्यों? उनकी आवश्यकता क्या है? भाषाएँ

साध्य नहीं साधन हैं—जीवन और समाजको सुन्दर, सरूप, परिष्कृत और आनन्दमय बनानेका साधन। फिर एकही उद्देश्यकी प्राप्तिकेलिए कई साधन प्राप्त हों तो बुराई क्या ? व्यावहारिक दृष्टिसे देखें तो भी खटपटका कोई कारण नहीं। हिन्दीवाले हिन्दीका प्रचार करें, उर्दूवाले उर्दूका और हिन्दुस्तानी वाले हिन्दुस्तानीका। निरक्षरताके गर्तमें डूबे हमारे विशाल देशमें न आदमियोंकी कमी है, न स्थानकी। ८—१० फ़ी सदी भी तो हमारे देशवासी पढ़ना-लिखना नहीं जानते। जाइये उनको अक्षर ज्ञान कराइये, पढ़ाइये, लिखाइये। देशभरके मौजूदा प्रचारकोंकी संख्याको सौ-हज़ार गुना बढ़ादिया जाय तोभी तमाम देशको साक्षर बनानेमें हमें युगोंकी आवश्यकता होगी।

हिन्दी, उर्दू या अन्य स्थानीय मातृभाषाओंके बीच मनोमालिन्य या विरोध तो बिलकुल ही नहीं होना चाहिये। जिनकेलिए संभव हो, वे एक, दो, तीन या उससे भी अधिक भाषाएँ सीखें और सीखेंगे। हिन्दी वाले उर्दू सीखें, उर्दूवाले हिन्दीका अध्ययन करें। आखिर हम अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी या जर्मन पढ़ते हैं या नहीं ! अधिक भाषाएँ जाननेसे अजीर्ण नहीं होता, न संस्कृतिका अतिसार ही होजाता है। सच बात यह है कि आगे चलकर हरेक सुसंस्कृत हिन्दुस्तानीको कम-से-कम चार-पाँच भाषाएँ जाननी होंगी, अपनी मातृभाषा ( चाहे वह तेलगू, तामिल, मलयालम, कन्नड़ हो या भोजपुरी या मैथिली ) हिन्दी, उर्दू और एक या दो विदेशी भाषाएँ। यह भी सुसंस्कृत व्यक्तिका माप-दण्ड होगा। पर वह दिन दूर है। फ़िलहाल तो अपनी-अपनी भाषाओंका प्रचार करके ही उस दिनको निकट लानेका कार्य हम करसकते हैं और इसीमें हमें जुटना चाहिये। हमारा आपका काम हिन्दी-प्रचार करना है। हम इसे करें। दूसरे कामको दूसरे लोग सँभालेंगे। राष्ट्रभाषाके विवादका यही समाधान है।

इस भाषणमें मैंने दूर-दूरकी बातें की हैं। जिनका परोक्ष रूपसे न

होतेहुए भी अपरोक्ष रूपसे आप प्रचारक और विद्यार्थी भाइयोंके कामसे बड़ा सम्बन्ध है। वर्तमान समस्याओं और व्यावहारिक प्रश्नोंको उनके ऐतिहासिक रूपसे अलग करके देखनेमें ग़लती करनेका, उद्दिष्ट मार्गसे च्युत होजानेका खतरा रहता है। इसलिए मैंने आपका इतना समय लिया।

अब दो-एक शब्द व्यावहारिक कार्योंके बारेमें भी कहकर मैं अपने भाषणको समाप्त करूँगा।

मैंने ऊपर कहा कि हमारा आपका काम अपने सीमित क्षेत्रमें अपनी शक्तिके अनुसार अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दीका प्रचार करना है। बिना किसीसे झगड़ा मोललिये पिछले लगभग सात वर्षोंसे बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ यही काम कररही है। आप भाईभी काफ़ी अर्सेसे इसी कामको आगे बढ़ानेका प्रयत्न कररहे हैं। आपकी संस्था और आपका यह गंभीर उत्सव इस बातके साक्षी हैं।

अब आपसे मेरा यही निवेदन है कि इस कार्यका और विस्तार कीजिये। प्रयत्न कीजिये कि इस रियासतके प्रत्येक केन्द्र और उपकेन्द्रमें आपके कार्यकर्त्ता और प्रचारक हों। रियासतका कोई भाग आपकी पहुँच के बाहर न रहे। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ देशकी जनता आपकी सम्पूर्ण आवश्यकताएँ पूरी करेगी। धन, जन, किसी भी वस्तुकी आपको कमी नहीं रहेगी। इस विश्वासके पीछे सार्वजनिक जीवनका मेरा १२-१३ वर्षका अल्प अनुभव है। हमारे देशवासी देनेमें कोताही नहीं करते, लेने केलिए उपयुक्त पात्र चाहिये।

आप जगह-जगह केन्द्र खोलें जहाँसे प्रचार और अध्ययन-अध्यापनका कार्य चलाया जासके। संभव हो तो इनमेंसे प्रत्येक केन्द्रमें अपनी गोष्ठीकी कुटिया खड़ी कीजिये।

जहाँपर सम्भव हो वहाँ स्थानीय जनताकी सहायतासे सार्वजनिक वाचनालयों पुस्तकालयों और अध्यापन या वादविवाद-मण्डलियों की

स्थापना करें। इन स्थानोंमें हिन्दीके उच्च श्रेणीकी दो - एक पत्र - पत्रिकाएँ मँगानेकी व्यवस्था करें। वाद-विवाद भी हिन्दीमें हो।

वर्ष भरमें कम - से - कम एकबार अपने तमाम केन्द्रोंके कामकी रिपोर्ट प्रकाशित करनेकेलिए एक छोटी-सी पत्रिका निकालें।

साधनहीन विद्यार्थियोंकी मददकेलिये स्थानीय लोगोंकी सहायता से छोटी-छोटी छात्रवृत्तियोंका इन्तज़ाम हो।

इस सब काममें— सबसे ज़्यादा ध्यान अपने कार्यकर्त्ताओंपर दीजिये, उनकी शिक्षा, और खाने-पीनेकी उचित व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। वेही आपके हाथ-पैर हैं। उन्हें कमज़ोर करके या भूखों मारकर आप अधिक काम नहीं करसकेंगे।

इन सब कामोंका कार्यक्रम अपनी शक्ति और साधनोंको दृष्टिमें रखकर बनाइये। काम धीरे-धीरे ही बढ़ता है, शेखचिल्ली जैसी बड़ी बड़ी योजनाओंसे तो केवल निराशा ही हाथ लगेगी।

रुपयोंकी सहायताकेलिए बम्बई हिन्दी-विद्यापीठकी कार्यकारिणी की जिस बैठकमें आपका पत्र रखागया था, उसमें मैं मौजूद था। विद्यापीठ के भी साधन बहुत सीमित हैं। फिरभी आपके कार्य और उत्साहको देख कर कार्यकारिणीने ३००) की मदद देनेका निश्चय किया है। वर्तमान परिस्थितिमें इससे अधिक उसकेलिए सम्भव नहीं था।

अन्तमें भाइयो, मैं कहूँगा कि शिक्षाका कार्य बहुत महान् है। शिक्षा - कार्यमें अपना जीवन खपा देनेवाले शहीदोंका स्थान देशकी आज़ादीके सक्रिय आन्दोलनमें भाग लेकर सूलीपर चढ़जानेवाले वीरोंसे छोटा नहीं है। वास्तवमें तो ये दोनों एकही हैं, एक ही कार्यके दो अङ्ग हैं।

दृढ़ निश्चय करके आप आगे बढ़ेंगे तो सफलता और गौरव अवश्यम्भावी है। इस निश्चयकी राहपर मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ।

---

# हिन्दी भाषा और साहित्यका विकास

# एक योजना

★

बहिनो और भाइयो,

महती राष्ट्रभाषाके जय-जयकारमें संलग्न आपका अभिनन्दन। आप सबके लिये गंगा-यमुनाकी अन्तर्वेदीसे शुभ कामना और बधाईका संदेश लेकर मैं अपने आपको यहाँ आया हुआ मानता हूँ। आज आपके बीच अपनी उपस्थितिका यही एक हेतु मुझे सत्यके निकटतम जान पड़ता है। अपने मन और कर्मकी शक्तिसे जो व्यक्ति राष्ट्रभाषाके प्रचार और संवर्धनका कार्य कर रहे हैं उनके प्रयत्नोंका स्वागत है। राष्ट्रका निर्माण और जन्म बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है और राष्ट्रभाषाकी सर्वमान्य स्थापना उसका ही एक अभिन्न अंग है। हिन्दी-विद्यापीठ बम्बईने देशके इस भागमें हिन्दी-प्रचारके द्वारा राष्ट्रभाषाकी जो सेवा की है उसकी ओर मध्यदेशकी जनताका ध्यान है; और आशा है कि दक्षिण भारतके हिन्दी-प्रचारकी भाँति आपका मह कार्य भी निरन्तर उन्नति प्राप्त करेगा। आठ वर्षोंके परिमित समयमें आपको जो सफलता मिली है वह आनेवाले शुभ भविष्यकी सूचक है।

किन्तु मुझे विदित है कि आपके हिन्दी-विद्यापीठका उद्देश्य राष्ट्रभाषाके प्रचार तक ही सीमित नहीं है। इसके संस्थापकोंने तो विद्यापीठकी कल्पना एक महान् विश्वविद्यालयके रूपमें की है, जो भविष्यमें ज्ञान-विद्यालय और महाविद्यालय की योजनाको सफल बनाता हुआ हिन्दी-भाषाके विश्वविद्यालय-

के रूपमें विकास प्राप्त कर सकता है। प्रचार-परीक्षा-विभाग तो उस ऊँचे उद्देश्यकी पहिली परन्तु दृढ़ सीढ़ी है। जिस प्रकार हरिद्वारमें सर्वसुलभ हरिकी पैड़ी पर अभिषेक करके हम क्रमशः ऊँचे चढ़ते हुए चुल्ल हिमवन्तकी (छोटे हिमालय) सीढ़ियों पर चढ़ जाते हैं, और फिर उससे भी आगे महान् हिमवन्त के (ग्रेट सेण्ट्रल हिमालय) बदरी-केदार आदि तुंग शिखरों पर जा पहुँचते हैं, उसी प्रकार ज्ञात होता है कि विद्यापीठके अधिनायकोंने हिन्दी-सेवाके कर्त्तव्यका मार्ग-मापन अपने सामने कर रक्खा है। इतने विशाल उद्देश्यको ध्यानमें रखते हुए यह नहीं भुलाया जा सकता कि हिमालयका सर्वसुलभ रूप तो हरिद्वारके समीप ही है, जहाँ सर्वलोक-नमस्कृता गंगाकी धारा समतलमें बहने लगी है। उसी भाँति हिन्दी-विद्यापीठका जो सर्व-साधारणके लिए आकर्षक और उपकारी रूप है वह प्रचार-परीक्षा-विभागमें ही है, जिसके स्नातक और स्नातिकाओंको उनके दीक्षान्तके अवसरपर साधुवाद देना मेरा आजका मधुर कर्तव्य है। जहाँ तक शिक्षा और ज्ञान-साधनका सम्बन्ध है आपमेंसे अनेक सज्जन अपनी-अपनी मातृभाषाओंके द्वारा काफी आगे बढ़ चुके हैं। हो सकता है कि बुद्धिके धरातलको ऊँचा उठानेके लिए आपको अपनी मातृभाषाका आश्रय पर्याप्त हो, क्योंकि मैं यह स्वीकार करता हूँ कि गुजराती, मराठी, कन्नड़ आदि प्रादेशिक और प्रान्तीय-भाषाओंके साहित्य समृद्ध हैं और उनमें जनताके मस्तिष्क और मनको पोषित करनेकी भरपूर शक्ति है। जैसे अपनी मातृभाषा हिन्दीके लिए मेरे मन में भक्ति है, वैसे जब मैं यह देखता हूँ कि एक गुजराती, मराठा या कन्नड़ी व्यक्ति अपनी भाषाका अनुरागी है तो मुझे प्रसन्नता होती है। सच यह है कि हिन्दीका किसी भी प्रान्तीय-भाषासे विरोध नहीं है। इस विशाल देशमें हिन्दी भी तो मूलतः एक प्रान्तकी ही भाषा है, चाहे वह प्रान्त क्षेत्रके विस्तारमें औरोंसे कितना ही बड़ा क्यों न हो। जो प्रान्तीय भाषाओं और हिन्दीके बीचमें स्पर्धाकी आशंका करे उस हिन्दी-भाषीके लिए शोक है।

प्रान्तीय-भाषाओंको रौंदकर हिन्दीका कल्याण संभव नहीं। हमारी अभिलाषा है कि प्रत्येक प्रान्तीय-भाषाका साहित्य अपने विकासकी चरम सीमातक पहुँचे और प्रत्येक प्रान्तीय-वाङ्मयको अपने मार्गसे उन्नति करनेकी पूरी छूट हो। प्रान्तीय-भाषाओंका अवरुन्धन किसीको इष्ट नहीं होना

चाहिए। अथर्ववेदका पृथिवी सूक्त, जो हमारे राष्ट्रनिर्माणका ढाँचा है, उसमें प्रान्तीय-भाषाओंके जीवनके उस अधिकार-पत्रको सौहार्द भरे शब्दोंमें स्वीकार किया गया है। वहाँ कहा है—

**जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।**

(अथर्व १२।१।४५)

मातृभूमिपर बसे हुए जन अनेक प्रकारके (बहुधा) हैं उनकी भाषाएँ अनेक हैं और वे नाना धर्मोंके मानने वाले हैं।' यह अनेकता हमारे राष्ट्रकी दैवी संपत्ति है। इस विविधताके भीतरसे हमारे मनीषियोंने सहिष्णुता और समन्वयकी जीवन-विधिको बड़े कौशलसे ढूँढ़ निकाला, वही भारतीय विचार और कर्मकी दृढ़ भूमि बनी। जब प्रकृतिकी ओरसे ही हमें विविधताका वर-दान मिला था तब हमारे राष्ट्रके पथ-निर्धारक इस अनेकतासे विक्षुब्ध नहीं हुए और न समय-कुसमय विविधताको कोसनेकी शिक्षा ही उन्होंने अपने देश-वासियोंको दी। भाषा, धर्म, देवता, प्रान्त, भूमियाँ—सब विविधताओंको उन्होंने सिर-माथे पर रक्खा और भौतिक भेदोंके भीतर पैठकर आत्मा एवं मानसके चैतन्य-कृत एकत्वको ढूँढ़ निकाला। मानवीय मस्तिष्ककी यही महत्ता है कि वह प्रकृतिकी बाधाओंपर विजय प्राप्त करता है। भारतवर्षके उषःकालीन चिन्तनमें ही हम मनकी इस भारी विजयको सिद्ध हुई देखते हैं। फलतः हमारी संस्कृति और धर्मके रोम प्रति-रोममें समन्वय, सहिष्णुता और सहानुभूतिका महासूत्र पिरोया हुआ है। उदाहरणके लिए आदिम वन्यजातियोंकी शाबरी और निषाद भाषाएँ और संस्कृति भी कई सहस्र वर्षोंतक आर्यजीवन-विधिके साथ सख्य भावसे बसती आई हैं और दोनोंमें अनेक प्रकारका आदान-प्रदान हुआ है। यह सुखद सम्मेलन राष्ट्रके लिए आज भी अनमोल है। इसके द्वारा देशमें पारस्परिक सौहार्द और समझौतेके भावकी बढ़ती हुई है। इस प्रकार सभी प्रान्तीय भाषाओंकी प्रतिष्ठा हमारी नीति होनी चाहिए। केवल इसी तरह हमारे राष्ट्रीय जीवनका बहुरंगी चित्रपट पर्याप्त रूपमें सज्जित और सबके लिए आकर्षक बनाया जा सकता है।

किन्तु आज राष्ट्रीय चेतनाके नवयुगमें हमें एक दूसरे दृष्टिकोणसे

भी विचार करनेकी आवश्यकता है। राष्ट्रीय मानस की स्फुट अभिव्यक्तिके लिए राष्ट्रीय भाषा-रूपी एक साधन अवश्य होना चाहिए। आज तक हमारे सार्वजनिक जीवनकी गाड़ी अंग्रेजीके बलपर किसी तरह घिसटती रही। पर इससे जनताके अपने हाथ-पैर मारे गए और भाव-प्रकाशनके लिये उनके कंठ रुँधे रह गए। इस अवस्थाको तुरन्त ही बदल डालना होगा। भारतकी हरएक भाषाको अंग्रेजीके कारण अपने आत्मतेजसे हाथ धोना पड़ा है। आत्मतेजकी प्राप्तिके लिये सबको एक साथ मिलकर अंग्रेजी-भाषाकी बेदखलीके लिये प्रयत्न करना है, यही राष्ट्रभाषाकी उपयोगिता है। हिंदीके प्रति आप लोगोंका जो उत्साह है, उसका व्यावहारिक पहलू यही है। सरकारी शासनके हरएक क्षेत्रमें अंग्रेजीके स्थानमें हिंदीको स्थापित करना है। रेल, तार, डाक आदिके सार्वजनिक महकमोंमें जल्दीसे जल्दी राष्ट्रभाषाको अपनाना है। प्रतिवर्ष हजारों रिपोर्टें सरकारी तौरपर अंग्रेजीमें छपती हैं। देशकी सर्वसाधारण जनताका पैसा उनपर व्यय किया जाता है, पर जनता उनसे लाभ नहीं उठा पाती। जिस दिन यह सब सामग्री राष्ट्रभाषा हिंदी में छपने लगेगी उसी दिन जनताके पल्ले कुछ पड़ सकेगा। राष्ट्रभाषा हिंदीके प्रचारका कार्य उसी शुभ दिनको निकट लानेकी तैयारी है। प्रत्येक विभागमें अंग्रेजीको छोड़कर राष्ट्रभाषा हिन्दी तक पहुँचनेके लिए पाँच वर्षों की अवधि निश्चित कर देनी चाहिए। उतने समयके भीतर सब सरकारी छापेखाने और महकमे अपने कल-पुर्जोंको राष्ट्रभाषाके अनुकूल बना लें। यही कालोचित अनुशासन होना चाहिए।



राष्ट्रभाषाके पदपर हिन्दीका अभिषेक हुआ है। इसी कारण हिन्दीका उत्तरदायित्व भी बहुत बढ़ गया है। एक ओर यह आवश्यक है कि हिन्दी-साहित्य सच्चे अर्थोंमें भारतीय संस्कृतिका दर्पण बने। दूसरी ओर विश्वके ज्ञान-विज्ञानको हिन्दीके माध्यमसे प्रकट करना भी आवश्यक है। हिन्दीमें राष्ट्रीय और लोकोपयोगी साहित्यका निर्माण करनेके लिये संगठित आयोजनकी आवश्यकता है। हमारा वाङ्मय अन्य अर्वाचीन भाषाओंके साहित्यकी तुलनामें बहुतसे अंशोंमें पिछड़ा हुआ है। उस कमीको पूरा करना होगा। साहित्य-रचनाका यह महायज्ञ व्यवस्थित योजनाके अनुसार

पूरा होना चाहिए। वैसे तो साहित्यकी परिधि अनन्त है, राष्ट्रके मानसमें कहींपर भी श्रद्धावान् चिन्तनके कारण साहित्य-सृजनका कार्य किया जा सकता है! पर उस प्रकारके स्वयमुद्भूत और प्रतिभा-जनित साहित्यकी बात निराली है। हमें तो प्रारम्भमें दसवार्षिकी योजनाके अनुसार उस प्रकारका साहित्य राष्ट्रभाषामें तैयार करा देना है जो अनुवादकों और लेखकोंके परिश्रमसे बन सकता है। प्रसिद्ध है कि मुगल-सम्राट् अकबरने आगरेमें सौ चित्रकार रखकर किस्स-ए-हम्जानामाके चौदह सौ चित्र तैयार कराये थे और यह काम कुछ-कुछ आजकलके कारखानेके सामूहिक ढंगपर किया गया था। साहित्यके क्षेत्रमें भी हम इस प्रकारके संगठित केन्द्रकी स्थापना कर सकते हैं, जिसमें सौ या दो सौ सहित्यसेवी और शास्त्रीय विद्वान् निरन्तर अनुवाद और ग्रन्थ-रचना करते रहें। एक बार शुरू होकर यह काम दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर सकता है। जनता और सरकार दोनोंका सहयोग इस आवश्यक कार्यमें मिलना चाहिए। बम्बई जैसे नगरमें भौतिक वस्तुओंके उत्पादनके सैकड़ों यन्त्रालय लोककी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें लगे हैं। क्या साहित्य-रचनाका एक कार्यालय भी उसी सफलतासे यहाँ नहीं चलाया जा सकता? हम यह भी जानते हैं कि आवश्यक उद्योगधन्धोंकी जड़ मजबूत करनेके लिए सरकारी विशेष सहायता कल-कारखानोंको दी जाती है। हमारे मानसिक और बौद्धिक स्वास्थ्यके लिए साहित्यसे अधिक आवश्यक साधन और क्या हो सकता है? अतएव साहित्यके महामंदिरको भरपूर सरकारी सहायता पानेका अधिकार है। वस्तुतः सार्वजनिक कोषसे ही दस-बीस लाख रुपयेके मूलधनसे एक केन्द्रीय अनुवाद-मण्डल और साहित्य-मण्डलकी स्थापना होनी चाहिए। एक साथ कई सौ विद्वानोंको अनुवाद और ग्रन्थ-रचनाके काममें लगाकर हम पिछड़ी हुई दशाको सुधार सकते हैं। अशिक्षित जनताको साक्षर बनानेके लिए करोड़ों रुपयोंकी योजनाएँ विचाराधीन हैं। घरेलू उद्योग-धन्धोंके उद्धारके लिए भी मुक्तहस्त होकर धन खर्च करनेकी बात हम सोच रहे हैं। रेलके इंजिन, हवाई जहाज मोटर गाड़ी देशमें ही बनानेके लिये सार्वजनिक कोषका उपयोग हमारे ध्यानमें आता है। निस्सन्देह ये कार्य राष्ट्रकी उन्नतिके साधक हैं, परन्तु क्या

साहित्यकी रचना उनसे कम महत्वपूर्ण है ? बुद्धिकी भूख बुझानेके लिये हमें तुरन्त ही कुछ करना चाहिए। परदेशी साहित्य और विदेशी भाषासे अपनी जनताका पिण्ड छुड़ाना बहुत ही आवश्यक है। उसके लिये एक दो करोड़ रुपयेका नियमित व्यय भी कुछ भारी बात नहीं है।

केन्द्रीय सरकारकी सहायता और प्रोत्साहनसे राष्ट्रीय साहित्य-परिषदका संगठन किया जा सकता है। प्रत्येक प्रान्तमें प्रान्तीय साहित्य-परिषदोंकी स्थापना करके, उन्हें केन्द्रीय परिषदसे संबन्धित करके कार्य कराना और भी अच्छा होगा। इससे भी आगे बढ़कर अनेक स्थानीय साहित्य-परिषदोंको भी अनुवाद और रचनात्मक साहित्यका कार्य अपने हाथोंमें लेना होगा। इस प्रकारके सामूहिक प्रयत्नसे ही साहित्यका अधिदेवता प्रसन्न किया जा सकेगा। जिस राष्ट्रका साहित्य महान है, वही राष्ट्र महिमा भावको प्राप्त कर सकता है। केन्द्रसे महिमा भावमें आना ही जीवनका लक्षण है। इस समय हमारे राष्ट्रमें चारों ओर महान् बननेके उपक्रम हो रहे हैं। प्रत्येक क्षेत्रमें जीवनकी चेतना प्रकट हो रही है। शताब्दियोंसे जो विचार सोये हुए पड़े थे वे जाग रहे हैं। जिस पकार बसन्तका संदेश प्रत्येक लता, वृक्ष और वनस्पतिमें नए जीवन-रसका संचार कर देता है उसी प्रकार इस समय हमारे राष्ट्रीय मानसमें अपने आपको आद्योपान्त जान लेने के (आत्म-स्मृति) विचार पुनः पल्लवित हो रहे हैं। इस ओजायमान प्रवाहमें एक-दो या दस-बीस केन्द्रों से क्या, वरन् सैकड़ों-हजारों स्थानोंसे साहित्यके नव-विधानके अंकुर फूटेंगे। आकाश-संचारी मेघोंके जल उन्मुक्त होकर जब बरसते हैं तब जहाँ कहीं बीज और उर्वरा भूमिकी सम्पत्ति होती है, वहीं उत्पादन होने लगता है। साहित्यके क्षेत्रमें भी इस प्रकारका देशव्यापी उत्पादन आवश्यक है। साहित्यिकोंकी भावना और कर्मशक्तिके योगसे सर्वत्र नूतन साहित्यकी सृष्टि संभव है। साहित्यका निर्माण एक यज्ञीय कार्य है। अपने-अपने साधन और शक्तिके अनुसार जो चाहे इस यज्ञमें भाग ले सकता है। साहित्य-सेवी इस यज्ञके पुरोधा हैं। साहित्य-प्रेमी इसके यजमान हैं। कोई भी श्रद्धालु यजमान इच्छानुसार धनका सदुपयोग करके साहित्यिक यज्ञ करा सकता है। एक या एकसे अधिक ग्रन्थोंके अनुसंधान, संपादन, अनुवाद और प्रकाशनका प्रबन्ध

करके हम इस पवित्र कार्यमें भाग ले सकते है। जो व्यक्ति किसी भी साहित्यिक योजना, ज्ञानकेन्द्र या कलापीठका संवर्धन करता है, वह सच्चे लोक-कल्याणके कार्यमें प्रवृत्त कहा जा सकता है।

## हिन्दीमें हम क्या करें?

साहित्यके क्षेत्रका सीमा-विस्तार अनन्त है। फिर भी राष्ट्रभाषमें साहित्य-निर्माणके लिए कुछ निश्चित सुझाव रक्खे जा सकते हैं। हमारी साहित्य-परिषदें निम्नलिखित विभागोंके अनुसार साहित्य-रचनाका कार्य करा सकती हैं—

१—**प्राचीन साहित्य**—इसके अन्तर्गत समस्त संस्कृत साहित्यका पूरी छान-बीनके साथ हिन्दीमें अनुवाद और प्रकाशन होना चाहिए। निखिल पाली साहित्य, अर्धमागधी जैन साहित्य, अपभ्रन्श साहित्य एवं बौद्ध-संस्कृत साहित्य भी इसी विभागके अन्तर्गत आ जाते हैं। संशोधन और इतिहास-समीक्षाकी दृष्टिसे प्राचीन साहित्यके लिए जो कार्य पिछले सौ वर्षोंमें अंग्रेज़ी भाषाके माध्यमसे हुआ है वही कार्य शीघ्रसे शीघ्र हिन्दी भाषामें पूरा होना चाहिये। तीस कोटि भारतीय जनताका इस साहित्यसे सीधा सम्बन्ध है। यह हमारे ज्ञान और संस्कृतिकी अमूल्य निधि है। पूनाके भाण्डारकर-प्राच्य-शोध-मन्दिरने व्यासकी शत-साहस्त्री संहिता महाभारतका प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करके भारतीय साहित्य और संस्कृतिका बड़ा हित किया है। इस प्रकारके महत्वपूर्ण ग्रन्थोंको राष्ट्रभाषा के माध्यमसे प्रकाशित करना हमारा कर्तव्य है। रामायण, पुराण, वेद, वेदांग, स्मृतियाँ, निबन्ध, काव्य, इतिहास, कोष, आलोचना आदि अनेक विषयोंके संस्कृत ग्रन्थोंका हिन्दीमें रूपान्तर हमारे युगके लिए आवश्यक है। प्रत्येक प्रान्तीय भाषा को भी यथाशक्ति इस कार्यमें हाथ डालना चाहिए। संस्कृतसे अनुवादका कार्य प्राचीन और नवीनके बीचमें सेतुबन्धकी तरह है। संस्कृतिके क्षेत्रमें भारतीय राष्ट्रने कई सहस्राब्दियों तक जो निर्माण का कार्य किया है, उससे परिचित होना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।

उसकी ओरसे उदासीन रह कर हम अपनी कुशलताकी आशा नहीं कर सकते। इसी विभागके अन्तर्गत वे ग्रन्थ भी हैं, जो भारतीय साहित्य या धर्मके विषयमें विदेशी भाषाओंमें सुरक्षित हैं। भारतीय कलाका अध्ययन करते समय हम अपने पड़ौसी देशोंमें सुरक्षित कलाका भी अध्ययन करते हैं। वैसी ही कुछ बात साहित्यके लिए भी है। तिब्बतीय धर्मग्रन्थ कंजुर और तंजुरमें अनेक भारतीय ग्रन्थोंके अनुवाद हैं। चीनी त्रिपिटकमें भारतीय धर्म और संस्कृतिसे सम्बन्ध रखनेवाले लगभग पाँच सहस्र ग्रन्थ सुरक्षित रह गये हैं, जिनके संस्कृत मूल अब लुप्त हो चुके हैं। उनमें भारतीय इतिहास और भूगोलकी अतुलित सामग्री है, अतएव उनका उद्धार करना राष्ट्रीय कर्तव्य है। इसी प्रकार प्राचीन ईरानी और पहलवी भाषाओंके ग्रन्थोंका भी हमारे लिए बहुत बड़ा महत्व है। प्राचीन ईरानकी भाषा वैदिक भाषाकी सगोती थी। न केवल पारसी धर्म और संस्कृतिके ज्ञानके लिये उसका अध्ययन आवश्यक है, वरन् प्रान्तीय भाषाओंके निरुक्तशास्त्रके लिए भी हमारे विशेषज्ञोंको उसे जानना चाहिए। पहलवी भाषा सासान-वंशी फारसकी राजभाषा थी। वह अर्वाचीन फारसीकी जननी है। प्रान्तीय भाषाओंमें जो हजारों फारसी शब्द हैं उनका आदिम रूप पहलवीके युगमें ही स्थिर हुआ। किसी भी प्रान्तीय भाषा की शब्द, निरुक्तिका काम बिना पहलवीके ज्ञानके चल ही नहीं सकता। हिन्दीमें तो फारसीके माध्यमसे आये हुए पहलवीके शब्द पद-पदपर मिलते हैं। साल, सितारा, नेक, पोच, तीर, चरबी, बुनियाद, चाकू, शहर, शाह, तराजू जैसे हजारों शब्द जो हिन्दीमें घुल-मिल गये हैं, पहलवी भाषाकी देन हैं। पहलवीका व्याकरण और शब्द-शास्त्र स्वयं संस्कृतका ऋणी है। पहलवीका 'हर्व' संस्कृत 'सर्व' से निकला है, जिसका फारसी रूप 'हर' हिन्दीमें बिल्कुल पच गया है। इसलिए और भी हमारा कर्तव्य हो जाता है कि पहलवी भाषा और उसके साहित्यकी ओर हिन्दीके द्वारा हम सविशेष ध्यान दें।

२—**विदेशी साहित्य**—राष्ट्रीय साहित्यकी दिक्सीमा का विस्तार करनेके लिये विदेशी भाषाओंमें लिखे हुए साहित्यकी ओर ध्यान देना भी जरूरी है। विदेशी साहित्यके अन्तर्गत सबसे पहले उस साहित्यको लेना

चाहिये जिसका भारतीय इतिहास और संस्कृतिसे सम्बन्ध है । यूनान और रोमके साथ भारतका सम्पर्क हुआ था । उन भाषाओंके पुराने साहित्यमें भारतवर्ष-सम्बन्धी प्रर्याप्त सामग्री है। उसको उन भाषाओंके मूल ग्रन्थोंसे हिन्दीमें लाना चाहिए। पुर्तगाली, ओलन्दाजी, फ्रांसीसी और अंग्रेजी यात्रियोंके सैकड़ों यात्रा विवरण हमारे राष्ट्रीय जीवनके एक बहुत ही गाढ़े समय ( १६वीं से १८ वीं सदी) का चित्रण करते हैं। उनका हिन्दी रूपान्तर शनैः शनैः प्रस्तुत करना चाहिए। इसी कोटिका फारसी और अरबीका साहित्य भी अपना एक विशेष स्थान रखता है। मसूदी ( १० वीं सदी ), इस्तखरी (९५० ई०) इब्नहौकल (९७५ ई०), अल्बिरुनी (९७३-१०४८ ई०) इदरीसी (११५४ ई०), इब्बनतूता (१३५५ ई०) आदि अरब भौगोलिकोंने भारतके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण सामग्री छोड़ी है, जिसको अरबीसे हिन्दीमें लाना आवश्यक है। सुल्तानी और मुगल राज्य-कालके कितने ही फारसी इतिहासोंसे भी हमें राष्ट्रीय भाषाके द्वारा परिचित होनेकी आवश्यकता है। चीनी यात्रियोंके भारत विषयक ग्रन्थोंका भी इसी विभागके अन्तर्गत अनुवाद होना चाहिए।

यह तो हुई प्राचीन विदेशी साहित्य की बात । वर्तमान भाषाओं—जैसे अंग्रेजी, फ्रेन्च, जर्मन आदिमें भारत विषयक जो गवेषणात्मक सामग्री या मौलिक ग्रन्थ लिखे गये हैं, उन्हें भी राष्ट्रभाषामें लाना चाहिए।

**३ प्रान्तीय साहित्य**—अपने देशकी प्रान्तीय भाषाएँ अधिकांशमें संस्कृत वर्गकी होनेके कारण हिन्दीसे घनिष्ट सम्बन्ध रखती हैं। उन भाषाओंके उत्कृष्ट ग्रन्थोंका हिन्दीमें अनुवाद होना आवश्यक है । इस दिशामें थोड़ा काम भी जहाँ-तहाँ हुआ है, परन्तु निश्चित योजनाके अनुसार बड़े पैमाने पर काम करनेकी आवश्यकता बनी है। गुजराती, मराठी, सिंधी, पंजाबी, काश्मीरी, नेपाली, बँगला, उड़िया, अहोम आदि भाषाओंका निकट सम्पर्क पाकर हिन्दीका गौरव बढ़ेगा। हिन्दी इस समय राष्ट्रभाषाकी ऊँची आसन्दीपर बैठी है। समानशील प्रांतीय साहित्योंको अपना-अपना उपहार अर्पित कर हिन्दीके अभिषेक-संभारको समृद्ध बनाना चाहिए। प्रांतीय साहित्योंके

बीचमें हिन्दी साहित्यके उठानका रूपक इस मन्त्रसे ज्ञात होता है—

'वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः।'

अर्थात् जैसे उदित होनेवाले नक्षत्रादिकोंमें सूर्य है वैसे ही बराबरीवालोंके बीचमें मेरा उत्थान है।

**सामाजिक साहित्य**—अर्थ-शास्त्र, राजनीति और समाज सम्बन्धी साहित्यकी हिन्दीको बहुत बड़ी आवश्यकता है। देशमें इस समय आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, ये तीन बड़ी क्रान्तियाँ हो रही हैं। क्रान्तिकारी विचार साहित्यमें प्रतिबिम्बित होते हैं। अतएव भारतीय समस्याओं पर अपने ढंगसे सोचनेकी शक्ति ही समाजशास्त्रीय साहित्यकी नींव बन सकती है। इस क्षेत्रमें कोरे अनुवादसे काम नहीं चल सकता। जनताके अनुभवकी कसौटीपर जो सत्य कसे गए हैं वे ही समाजके लिये उपयोगी हो सकते हैं। जीवनकी हलचलके द्वारा ही राजशास्त्रके प्रयोग प्रत्येक युगमें व्यक्ति और समाजके लिये सत्यात्मक बनाये जाते हैं। प्राच्य और पाश्चात्य राज-शास्त्रके कुछ मूल-भूत ग्रन्थोंके अनुवाद प्रस्तुत करनेका काम साहित्य-परिषदोंके द्वारा हो सकता है। परन्तु मूल साहित्य-सृजनके लिए क्रमिक विकास और समयकी अपेक्षा होगी।

५—**वैज्ञानिक साहित्य**—संसारमें इस समय विज्ञानका महिमाशाली साहित्य दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा है। उसको राष्ट्रभाषाके कोषमें समेटनेकी आवश्यकता है। इस कार्यमें एक सहस्र कार्यकर्ता भी हों तो थोड़े हैं। इस कार्यका अधिकांश तो विश्वविद्यालयोंके द्वारा सम्पन्न हो सकेगा। ऊँची-से ऊँची कक्षाओंमें राष्ट्र-भाषाको शिक्षाका माध्यम स्वीकार करनेकी नीति कई विश्वविद्यालयोंने सिद्धान्ततः मान ली है। पर इसको व्यवहारमें पूरा करनेके लिये बलवान् प्रयत्नकी आवश्यकता है। विज्ञानके क्षेत्रमें पारिभाषिक शब्दा-वलीकी समस्या महत्त्वपूर्ण है। पश्चिमी वैज्ञानिकोंने ग्रीक और लैटिनकी सहायतासे अपने लिये पारिभाषिक शब्दोंकी समस्याको हल कर लिया है। उसी प्रकार राष्ट्रभाषा हिन्दी और समानशील प्रान्तीय भाषाओंके लिये वैज्ञानिक शब्दावलीका निर्माण हमें संस्कृतकी सहायतासे करना होगा। अपनी भाषाओंकी

मूलभित्तिको ध्यानमें रखते हुए हमारे लिये और कोई श्रेयस्कर अथवा व्यावहारिक मार्ग है ही नहीं। संस्कृत भाषा धातु और प्रत्ययोंमें ग्रीक और लैटिनसे भी कहीं अधिक समृद्ध है। कितनी ही बार तो यूनानी शब्दोंकी व्युत्पत्तिके आधारपर सरलतासे ही संस्कृतकी पर्यायवाची शब्दावली बना ली जा सकती है। उदाहरणके तौरपर प्राणिशास्त्र और भूगर्भशास्त्रके निम्नलिखित शब्द कितने चुस्त और निरुक्तदृष्ट्या पाश्चात्य शब्दोंके कितने निकट हैं:—

| | |
|---|---|
| Mesozoic | मध्यजन्तुक |
| Dinosaur | दानव सरट |
| Qarternary | तुरीयक काल |
| Tertiary | तृतीयक काल |
| Palaeozoic | पुरा जन्तुक |
| Protozoa | प्रातः जीव |
| Edentata | अदन्तक प्राणी |
| Insectivora | कीटाद |
| Carnivora | क्रव्याद |



जो कुछ वैज्ञानिक शब्दावली हमारे पास है वह संस्कृतके ही आधारपर आजकल बनी है। अतएव किसी भी प्रकार संस्कृतका सहारा छोड़ना इस विषयमें असम्भव है। चिकित्साशास्त्र, शरीरविज्ञान, प्राणिशास्त्र वनस्पतिशास्त्र, विद्युत्शास्त्रकी परिभाषाएँ इसी आधारपर बनानेका सफल प्रयत्न हो भी चुका है। रसायनशास्त्रके लिये लाहौरसे डा० रघुबीरके तत्व-अवधानमें सम्पूर्ण शब्दावलीका कोष प्रकाशित हुआ है। उससे यह प्रकट होता है कि यूनानी भाषाओंके शब्द-धातु और प्रत्ययोंकी चालपर संस्कृतके शब्द-धातु प्रत्ययोंसे किस प्रकार सरलतासे शब्द गढ़े जा सकते हैं। प्रान्तीय साहित्य-परिषदोंको उचित है कि एक साथ मिलकर इस महत्वपूर्ण विषयमें शीघ्र सर्व-सम्मत निर्णय करें। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चित्र, स्थापत्य कला, आदि शास्त्रोंके लिये लोकमें प्रचलित अनेक पेशेवर लोगोंके पास पारिभाषिक शब्दोंका अक्षय भण्डार है। ऐसे शब्दोंकी परम्परा पुराने

समयसे चली आई है। खोज करनेसे पता चलता है कि कितने ही पारिभाषिक शब्द दो सहस्र वर्षोंसे चालू हैं। कुछकी आयु उससे कम हो सकती है। प्रत्येक जातिके कारीगर और शिल्पी इनका व्यवहार करते हैं। उनका साहित्यमें पुनः प्रचलन अवश्य होना चाहिये। कोई प्रान्तीय भाषा ऐसी नहीं है जिसमें इस प्रकारके शब्दोंका भण्डार न हो। अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू, दिल्लीकी ओरसे मौलवी अब्दुल हक़ साहबने दो सौ पेशेवर लोगोंकी सूची बनाकर उनके पारिभाषिक शब्दोंका संकलन कराया था, जिसे दस भागोंमें छापनेका उनका विचार है।

इसका प्रथम भाग उक्त संस्थाके द्वारा प्रकाशित भी हो चुका है। इस ग्रन्थसे मुझे पहली बार ज्ञात हुआ कि पलंगके पायोंके नीचे उन्हें उठानेके लिए जो ठेक रक्खी जाती है उसे 'पड़वाया' कहते हैं। यह शब्द सं० 'प्रतिपादुका' से बना है, जो बाणकी कादम्बरीमें ठीक इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इस शब्दकी आयु १२०० वर्षोंके लगभग अवश्य है। पत्थरमें जालीके भाँति-भाँतिके कटावोंके लिये जाली छवाँस, अठवाँस आदि शब्द हैं, जो सं० षट्पार्श्व, अष्टपार्श्वसे निकले हैं। डमरूके आकारकी कटावदार जालीके लिए डैरू छवाँस (सं० डमरू षट्पार्श्व) शब्द है। इनसे निश्चयपूर्वक यह ज्ञात होता है कि पत्थर और लकड़ीमें आर-पार जालीके कटावका काम ठेठ भारतीय शिल्पकी देन है। फूल-पत्तियोंके गहरे कटावकी जो परिपाटी गुप्त कालसे शुरू हुई थी वह उत्तरोत्तर बढ़ती गई और अन्ततोगत्वा मध्यकालकी भारतीय शिल्पकलामें उसने आरपार कटी हुई जालीका रूप धारण कर लिया। यह बात जहाँ भारतीय शिल्पके विकाससे सम्मत है वहाँ लोकमें आज तक प्रचलित शब्दोंसे भी प्रमाणित होती है। हमारा विशेष लक्ष्य इस बातपर है कि वैज्ञानिक शब्दोंके निर्माणमें लोककी परम्पराका ध्यान रक्खा जाय। जिन अर्थों और वस्तुओंके लिए लोकमें चालू शब्द मिल सकते हैं वहाँ लोकका साथ छोड़ना उचित नहीं है। यही 'मज्झिम पटिपदा' या बीचका रास्ता है।

अन्तमें हिन्दी एवं प्रान्तीय भाषाओंके साहित्यकी गोद भरनेके लिए एक विशेष महत्वकी बातकी ओर मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ।

वह है जनपदीय साहित्यका संग्रह और संकलन। इस विषयको लेकर कुछ समय पूर्व हिन्दी जगत्में काफी विमत और सम्मत चर्चा चली थी। परन्तु सौभाग्य से जनपदीय साहित्य स्वयं अपने तेजसे प्रकाशित है। इस साहित्यकी उपयोगिता सिद्ध करनेके लिए लम्बे-चौड़े तर्कानुसारी प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है। जिस समय पहली बार हमारे पथीकृत पूर्वजोंने इस भूमिपर भूसन्निवेश (लैंड-सेटिलमेण्ट) की कल्पना की उसी समयसे जनपदीय साहित्यका बीजारोपण हुआ। भूमि, भूमिपर बसनेवाला जन और उस जनकी संस्कृति—ये ही जनपद रूपी विष्णुके तीन चरण हैं। इस प्रकारके त्रिविध अध्ययनका ठाठ अपने ज्ञानके प्रथम प्रभातमें ही हम अथर्ववेदके पृथिवी सूक्तमें पाते हैं। 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या।' इस नित्य और सार्वभौम परिभाषा को हम वहाँ अपने पूर्ण रूपमें विकसित देखते हैं। पृथिवीकी गोदसे जिसने जन्म लिया है उसीसे हमारा बन्धुत्वका नाता है। पर्वत और अरण्य, समतल भूमियाँ और समुद्र, निरन्तर बहनेवाली जलधाराएँ और जल पूर्ण स्रोत, नाना प्रकारकी वीर्यवती औषधियाँ, वृक्ष और वनस्पति, पृथिवीके गर्भ में संचित स्वर्ण और मणि रत्न, शिलाएँ और भाँति-भाँतिकी मृत्तिकाएँ, सुनसान जंगलोंमें मंगल करनेवाले सिंह, व्याघ्र आदि पशु एवं आकाशमें गरुड़की शक्तिसे झपटनेवाले नभचर पक्षी ये सब मातृभूमिके पुत्र हैं। मातृ-भूमिके परिचयमें इन सबका परिचय अंतर्निहित है। राष्ट्रीय नवोदयके समय इन सबके साथ हमें नूतन परिचय प्राप्त करना चाहिए। शतपथ ब्राह्मणमें कहा है कि राजसूय यज्ञके समय राजा एक सभा करता था जिसे पारिप्लव आख्यान कहते थे। इसका सत्र कई दिनों तक रहता था और इसके अन्तर्गत नाना विद्याओं और शास्त्रोंमें पारंगत विद्वान् एकत्र होकर राजाको राष्ट्रके सब भूतोंसे और संस्कृतिसे परिचित कराते थे। 'भूतानि आचक्ष्व' के आमंत्रणसे सभाका कार्य आरम्भ होता था। इस सभाके नवें दिन पक्षी विशेषज्ञ (वायोविद्यिक) देशके पक्षियोंका राजाको परिचय देते थे। समस्त राष्ट्रकी रक्षाके लिये जिस राजाका अभिषेक हुआ उसपर सबका अधिकार है। उसे सबका कुशल प्रश्न पूछना चाहिए। मूर्धाभिषिक्त राजाओंके युग तो अब चले गए। उनका राजनीतिक ऐश्वर्य (sovereignty)

प्रजाओंमें अवतीर्ण हुआ है और प्रजाओंके द्वारा नेताओंमें प्रकट होता है। प्रजा और नेता ही राष्ट्रीय मंगलके लिए उत्तरदायी हैं। ऐसे समय यह और भी आवश्यक है कि पृथिवीकी भूत-सम्पत्ति जन-समृद्धि और ज्ञान-संस्कृतिको आद्योपान्त जाननेका हम बहुत बड़ा प्रयास करें। इसीके द्वारा हम सच्चा स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा अपने ही देशमें हम अजनबी बने रहेंगे। जनपदीय अध्ययनके हजारों पहलू हैं। जहाँ तक भारतवर्ष विस्तृत है वहीं तक इस साहित्यका भी विस्तार है। एक-एक प्रान्तीय भाषा और स्थानीय बोली नये शब्दों और मुहावरोंके लिए कामधेनु सिद्ध होगी। राष्ट्रीय भाषाका स्वरूप जनपदीय अध्ययनके बिना सम्पन्न हो ही नहीं सकता। कमसे कम पचास हजार नये शब्दोंका जनपदीय साहित्यसे स्वागत करनेके लिए राष्ट्रभाषाको अपना तोरण द्वार उन्मुक्त रखना चाहिए। प्रान्तीय भाषाओंमें शब्दोंकी व्युत्पत्तिका काम अभी बहुत पिछड़ा हुआ है, कमसे कम हिन्दीके लिये तो यह बात सत्य है। हिन्दी शब्दोंकी निरुक्तिको भी जनपदीय शब्दावलीके संग्रहसे नई स्फूर्ति प्राप्त होगी। इसी प्रकार समस्त देशमें भौगोलिक नामोंकी व्युत्पत्तिकी छानबीन करनेका कार्य भी जनपदीय अध्ययनका ही एक आवश्यक अंग है। उसके लिए केन्द्र और प्रान्तोंमें 'स्थान-नाम-परिषदों' (प्लेस नेम सोसाइटीज़)का संगठन करना आवश्यक है।

जनपदीय साहित्य और संस्कृतिके देशव्यापी अध्ययनका एक मीठा फल होगा पारस्परिक प्रीति और समझौतेका भाव। समस्त वर्गों, सम्प्रदायों और जातियोंके मौलिक जीवनकी अखण्ड एकताका आधार ग्राम संस्कृति या जनपदीय संस्कृति है। साहित्यके साथ उस संस्कृति या जीवन-पद्धतिका जितना घनिष्ठ सम्बन्ध होगा, उतना ही हमारे लिये हितकर होगा। आजके वातावरणमें सुशान्त और प्रीति-सम्पन्न जीवन-निर्वाहकी चारों ओर आवश्यकता है। युद्ध, द्वेष, हिंसाने मनुष्यको निर्दय पशु की भांति एक दूसरेका भक्षक बना डाला है। मनुष्यके पास इस समय संमनस्कताके सिवा और सब कुछ है। प्राकृतिक साधनोंकी भरपूर उन्नति की जा चुकी है। ज्ञान और साहसकी भी खूब उन्नति हुई है। जल, थल, वायु, विद्युत सभीपर मनुष्यने विजय

पा ली है। पर प्रकृतिको जीतनेकी धुनमें मनुष्य अपनेको वशमें करना और समझना भूल गया है। वह और सबसे तो जीत गया है, पर अपने आपसे हार गया है। इसके कारण बुद्धि और परिश्रमसे पाये हुए हमारे सारे वरदान झूठे हो गये हैं। समस्त वैभवके होते हुए भी हम शान्ति और सुखसे दूर जा पड़े हैं। इसके लिए मनुष्यके मनकी चिकित्सा आवश्यक है। वाणीके सत्य आज कर्मके सत्य नहीं बन रहे हैं। मानस-सत्यको कर्मका सत्य बनानेका सबसे महान् साधन जो मनुष्यके पास है वह सात्विक साहित्य है। साहित्यके द्वारा ही नीति और धर्मके निर्माणात्मक तत्व शब्दोंमें मूर्त रूप ग्रहण करते हैं। अन्धकारग्रस्त समाजके लिए इस समय शब्द नामक ज्योतिकी आवश्यकता है। विश्वकी सब संस्कृतियाँ और धर्म आज कसौटी पर कसी जा रही हैं। जिस संस्कृतिकी विचारधारा इस प्रकारका शब्दात्मक प्रकाश दे सकती है वही संस्कृति विश्ववन्द्य और लोकनमस्कृत होगी। हमारा विश्वास है कि भारतीय संस्कृतिमें विश्व कल्याणके निर्माणकारी तत्व अन्तर्निहित हैं क्योंकि इसका मूल आधार चिन्मयके द्वारा अनुभूत ऐक्य और समन्वयपर स्थित है। समन्वयके इन सूत्रोंको सक्रिय जीवन-विधिका बल जब प्राप्त होगा तब उनका स्वर बुद्धके सिंहघोषकी भांति जम्बू द्वीपके आरपार सुनाई देगा और उसकी ध्वनि सकल लोकमें विस्तारको प्राप्त होगी।

पूर्वयुगोचित परन्तु नूतन युगके लिए उपकारी इन भावोंके साथ महती देवता हिन्दीके उदार सारस्वत प्रांगणमें आप सबका पुनः एक बार अभिनन्दन। ईश्वर करे सबके सम्मिलित उद्योगसे भाषा और संस्कृतिका स्वराज्य हमें शीघ्र प्राप्त हो।

बम्बई हिन्दी विद्यापीठ,
उपाधि पत्र-वितरण समारम्भ
रविवार, १३ जुलाई १९४७